# श्री पातञ्जल योग दर्शन
## की टीका
(स्व संवेदनशीलता के आधार पर)

# क्षमा-याचना

लेखक जब स्वयं ही 'प्रूफ रीडिंग' करता है, तब उसने जो लिखा है वही पढ़ता जाता है। इस कारण कुछ अशुद्धियां रह ही जाती हैं। मुद्रण प्रक्रिया में भी कुछ विभक्तियों तथा अक्षरों के टूटने से भी कुछ अशुद्धिया पैदा हो गई हैं जैसे 'अपनी' के स्थान पर अपना 'जी' के स्थान में जो तथा 'ढ' के स्थान में 'ट' हो गया है। इसके लिये पाठकों से क्षमा याचना के साथ प्रार्थना है कि पढ़ते समय अशुद्धियों को सुधार लें। उदाहरण स्वरूप कुछ विशेष अशुद्धियां नीचे दर्शाई गई हैं।

| पृष्ठ संख्या | लकीर संख्या | क्या छपा है | क्या होना चाहिये |
|---|---|---|---|
| ५ | १ | हे | है |
| १६ | २<br>२७ ] | पातज्जल | पातञ्जल |
| | १३ | पतज्जलि | पतञ्जलि |
| १८ | २७ | टिगाई | ढिठाई |
| १६ | अंतिम | आतमा सुवसा | आतम सुञ्सा |
| २४ | १६ | स्मृतिर्लब्ध्वा | स्मृतिर्लब्ध्वा |
| ३९ | १३ | वर्णन कर | वर्णन करता हैं |
| ४८ | १० | छहंकार | अहंकार |
| ७२ | १ | समाधिपाद का | समाधि प्राप्ति का |

टीकाकार

# श्री पातञ्जल योग दर्शन
## की टीका
(स्व संवेदनशीलता के आधार पर)

"कहौं प्रतीति प्रीति रुचि अपनी" ।
औ' कहौं सब निज नयनन देखी ।।

बृजराज सिंह

प्रकाशक :—ठा॰ भारतसिंह अधिवक्ता
१२/८२ बंजारी चौक
रायपुर (म०प्र०)

महात्माओं के आशीर्वाद
तथा विद्वज्जनों के अभिमत
हेतु सादर प्रसारित

मुद्रक—
श्रीकृष्णा प्रिन्टर्स
बंजारी रोड, रायपुर (म०प्र०)

"छः घन्टों तक पालथी मारकर किसी एक आसन में बैठे रहना, हृदय अथवा नाड़ी की गति को रोक रखना, जमीन के अन्दर एक सप्ताह अथवा एक महीने तक पड़े रहना योग नहीं है।"

परमपूज्य ब्रह्मलीन परमहंस स्वामी
शिवानन्दजी महाराज के ग्रन्थ 'योगासार' से

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

श्रीमद्भगवत्गीता २/५२-५३

# समर्पण

"यस्यान्तं नादिमध्यं नहि करचरणं नाम गोत्रं न सूत्रं,
नो जातिर्नैववर्णा: नहि भवति पुरुषो ननपुंसो न चस्त्री
नाकारं नैवकारं नहि जनिमरणं नास्ति पुण्यं न पापम् ।
तत्त्वं नो तत्त्वमेकं सहज समरसं सद्गुरुं तं नमामि ।।

नामोल्लेख बिना ही समर्पित है यह उन्हें ही जिनकी कृपाकोर का ही परिणाम है यह अनुभूति तथा अभिव्यक्ति। सती* के असती** हो जाने पर भी उसके द्वारा उनका*** नामोच्चार वर्जित ही तो है ।

विनीत
टीकाकार

* मान्यता वाली स्थिति ।

** मान्यता विहीन स्थिति ।

***अनामी का ।

जिन्हें समर्पित है यह कृति वे हैं पूज्यपाद :—

(संक्षिप्त परिचय पीछे देखें)

# जिन्हें यह कृति समर्पित है उन पूज्यपाद का
# संक्षिप्त परिचय

बंधवापारा रायपुर निवासी परम पूज्य श्री परमानन्द जी शास्त्री महाराज, अनन्त श्री विभूषित ब्रह्मलीन महर्षि मुक्त के कृपापात्र एवं समर्पित अनुचर हैं। महर्षि जी ने लगभग ५० वर्षों तक जिन आध्यात्मिक स्वानुभूत भावों का प्रचार किया उन्हीं भावों के अथाह सागर में गोता लगाकर नित नवीन भावरूपी अलभ्य रत्नों की खोजकर जिज्ञासु भक्तों और सत्संगियों में प्रचार कर रहे हैं।

सनातन सत्य का, जो निर्विवाद और सार्वभौम सिद्धान्त है; जो प्राणिमात्र का अपना आप है, लिंग, जाति, देश और काल से अतीत, जो विद्वज्जनों को भी अगम्य प्रतीत हो, उस परमतत्त्व के भावों को अपने अनपढ़ सत्संगियों को भी सहजतया हृदयंगम करा देना पूज्यपाद शास्त्री जी की विशेषता है। पढ़े, अनपढ़े स्त्री, पुरुष, बच्चे, सब उन्हें श्रवण करते हुए, उनके अमृतानुभव का समान रूप से रसास्वादन करते रहते हैं।

पूज्यपाद शास्त्री जी, गृहस्थ हैं। व्यावहारिक जीवन में अत्यंत सरल, सहज, आडम्बर हीन, किसी विशिष्ट पहिचान से रहित, सौम्य और सबको सुलभ हैं। व्यक्तित्व हीनता ही उनके छिपने की झाड़ी है। वे अपने को महर्षि मुक्त के सूत्रों का भाष्यकार ही मानते हैं।

ठा. जवाहर सिंह
ग्राम बोटेबोड़ जिला दुर्ग (म.प्र.)

नाथ सम्प्रदाय की परंपरा के महापुरुष पूज्यपाद योगी
श्री १००८ शंकरनाथ जी महाराज नवलेश्वर मठ,
बीकानेर (राजस्थान)

द्वारा प्रदत्त आर्शीवाद एवं आदेश

—□—
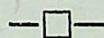
ठा. बृजराज सिंह का यह प्रयास लोक कल्याणकारी है। आपने शास्त्र सम्मत उद्‌गार इसमें व्यक्त किये हैं। इसके प्रकाशन से जीवों का कल्याण होगा। मेरा आशीर्वाद है कि इसका प्रकाशन होने पर लोग इससे लाभ उठावें और कल्याण के भागी हों।

हस्ताक्षर
(योगी श्री १००८ शंकरनाथ जी महाराज)
नवलेश्वर मठ, बीकानेर
(राजस्थान)

दिनांक ११-११-८४

"निष्ठा को हृदय में धार कर
शब्दों की सहायता से,
शब्दों को हटा कर,
यथार्थ का अनुभव करें।"

# उद्‌बोधन

स्वसंवेदनशीले,*

कितनी महान् लावण्यमयी और रसमयी है तू, साथ ही अथाह, गम्भीर, दुरूह और अगम्य भी। प्रचुर बुद्धि वाले भी तुझे पूर्णतया समझ नहीं सकते। अधिक ध्यान देने पर भी तेरे परमार्थ तत्त्व को पा नहीं सकते, उसी प्रकार जैसे महान् शक्तिमान् पुरुष भी असीम सागर को अवगाहन करने और उसके रत्नों को देख सकने में अपने को असमर्थ पाते हैं। तो क्या योग्य ग्रहीता के अभाव में तेरा लावण्य और रस तुझमें ही अनन्त काल तक सिमटे पड़े रहेंगे, और तू माता और जाया होते हुए भी सदा कुमारी ही बनी रहेगी! क्यों नहीं, पंचकन्या ** रूप ही तो है तू! तेरे ही प्रकाश में तो लिखी गई है यह टीका। प्रार्थना है कि तू सदैव ही जागृत रह।

तेरा ही अभिन्न
टीकाकार

---

* तथा ** के संबंध में पीछे देखें

* अपने प्राकट्य काल में, प्रत्यक्ष उपस्थित दृश्य से, अपने पृथक अस्तित्व को मान्यता रूप प्रथम कल्दना 'मैं' का जन्म सर्वात्मिका संवित् में स्वचेतना रूप होता है। अतः सर्वात्मिका रूप संवित् स्वचेतनारूप मैं' की माता है।

पृथकतानुभूति में प्रत्यक्ष का पराई आंखों से प्राप्त दर्शन के परोक्ष ज्ञान वशात् 'मैं', 'तू', 'वह'; 'यह'; 'वह', 'सब' की मान्यतायें स्वीकारी जाती और "श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" रूपी "मोहकलिल' में संसार का व्यवहार चलता रहता है।

यह जानते ही कि यह सब पराई आंखों को देन-"मोहकालिल" है, पराई आंखों का परोक्षज्ञान रूप चश्मा उतर जाता—"मोहकालिल" से बुद्धि पार हो जाती—और, 'मैं', तू', 'वह'; 'यह', 'वह', 'सब' विहोन सर्वात्मिका संवित् की अपरोक्षानुभूति, 'निर्वेद' (निर्विचार) रूप "प्राप्त हो जाती है। यह स्थिति, जो स्वचेतना रूप 'मैं' के सर्वात्मिका संवित् में विसर्जित हो जाने पर, आत्मरति रूप प्राप्त होती है वह सर्वात्मिका संवित् का जाया रूप है। इस स्थिति में ही स्वसंवेदनशील ज्ञान का उदय है।

माता और जाया होते हुए भी सर्वात्मिका संवित्, तटस्थ संवेदन से सदा अनुपलब्ध रहने से, सदा कुमारी ही है।

ऐसी सर्वरूष स्वसंवेदनशील सर्वात्मिका संवित् को ही संबोधन है यह !

** पंचकन्या रूप अहिल्या, तारा, मन्दोदरी, कुन्ती तथा द्रौपदी, अपनी मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरोध रूप चेतना है, जो माता, जाया, वा कुमारी तीनों ही है।

(देखें भूमिका खंड ५)

□

# आमुख

योग मूलत: एक दर्शन है। वैदिक षट्दर्शनों में उसकी गिनती है। उसका उद्देश्य 'स्वरूप स्थिति'—कैवल्य—की प्राप्ति है। जीवन का आरंभ बहिर्मुखी प्रवृत्ति के साथ होता है। उस प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी करना यौगिक प्रक्रिया है। योग का अर्थ है जोड़—अपने आपका अपने आप से मिलन। यह संभव है बहिर्मुखी वृत्ति के निरोध से ही। योग की व्याख्या ही की गई है :— 'चित्तवृत्ति निरोध योग है' (सूत्र १–३)। योग का उद्देश्य भी सूत्र १–३ में 'स्वरूप स्थिति' की प्राप्ति बतलाया गया है। यह स्वरूप स्थिति ही दर्शन के अन्तिम सूत्र ४-३४ में 'कैवल्य' कही गई है।

योगदर्शन सूत्र .-२८ का अर्थ है :—

"योग के अङ्गों के अनुष्टान से अशुद्धि के क्षय हो जाने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकज्ञान पर्यन्त होता है।" स्पष्ट है कि क्षय अन्त:करण की चित्त की अशुद्धि का होना है। अन्त:करण की अशुद्धि का क्षय और अन्त:करण में ज्ञान का प्रकाश अन्तर्मुखी अनुष्ठान से होगा न कि बहिर्मुखी अनुष्ठान से। अत: योगाङ्गों का अनुष्ठान अन्तर्मुखी करना होगा और इस हेतु योगाङ्गों का अन्तर्मुखी अर्थ ग्रहण करना होगा न कि बहिर्मुखी अर्थ जैसा कि तन्त्रों में किया गया है। बहिर्मुखी क्रियायें तन और मन के लिए कल्याणकारी हो सकती हैं पर योग के उद्देश्य की पूर्ति उनसे नहीं हो सकती।

भगवान बुद्ध ने आत्मा की सत्ता को स्पष्टतया अमान्य नहीं किया था। बाद में बौद्ध सम्प्रदायों में आत्मा या परमात्मा की सत्ता पूर्णतया अमान्य हो गई। तब अब योग हो तो किससे ? भगवान बुद्ध ने असम्प्रज्ञात तथा सम्प्रज्ञात समाधियों का स्पष्ट वर्णन किया था। अतः बौद्ध

सम्प्रदायों में योग की अन्तर्मुखी साधनायें बहिर्मुखता में स्वीकारी गई
श्वासावरोध से उत्पन्न अचेतनावस्था समाधि की स्थिति मानली गई जब
यौगिक समाधि पूर्ण चेतनावस्था की दशा है। इस तरह बहिर्मुखी सा
नाओं-अभ्यासों-के आधार पर, बज्रयान सम्प्रदाय में एकाधिक तंत्रों
निर्माण हुआ साथ ही मन्त्रों की जाप विधियां भी अपनाई गईं। तंत्रों
मंत्रों की क्रियायें तन और मन के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुईं। उन
प्रचार भी हुआ। बौद्धधर्म के भारत से लोप हो जाने पर भी उन तन
और मन्त्रों की क्रियायें सर्वसाधारण जन में प्रचलित रही आई। समय प
ये तांत्रिक क्रियायें 'योग' के रूढ़ार्थ में ली जाने लगीं। सामान्य जन योग
दर्शन से अनभिज्ञ होने के कारण, इस भ्रम से बच न सका। इस भ्रम
बचा जा सके, इस उद्देश्य से उन तांत्रिक प्रक्रियायों का नामकरण हुअ
'हठयोग'। इस 'हठयोग' का प्रचार वर्तमान काल में भी योग' के नाम प
हो रहा है।

अन्तर्मुखी साधनाओं में आसनसिद्ध होने पर देह के अन्नमय को
का, प्राणायाम से प्राणमयकोष का, प्रत्याहार से मनोमय कोष का, धारण
से विज्ञान मय कोष का, ध्यान से आनन्दमय कोष का बंधन ढीला होता
तथा समाधि से अस्मिता भाव, जो विदेह दशा के लिए बाधक हैं, दू
होता है।

बहिर्मुखी आसन, प्राणायाम और ध्यान की साधनाओं से कायिक
प्राणिक और मानसिक शक्तियाँ बढ़ती तो अवश्य हैं, जिनसे आकर्षित हो
साधकों को उन साधनों में रूचि पैदा होती है, पर इन बहिर्मुखी साधना
से अन्नमयकोष, प्राणमयकोष और मनोमयकोष के बंधन दृढ़ हो अहंका
की पुष्टि ही होती है, विज्ञानमय कोष तथा आनंदमयकोष तो अछूते ही
रह जाते हैं। समाधि की प्राप्ति तो दूर की बात रह जाती है, हां
मूर्छित स्थिति की प्राप्ति हो सकती है जिसे अज्ञानतावशात् समाधि मा
लिया जाता है।

इन बहिर्मुखी साधनाओं से केवल भ्रम का निर्माण होता है जिससे सामान्य जन उन तांत्रिक क्रियाओं को ही 'योग' मान बैठते हैं जो वस्तुतः 'योग' नहीं है। इन अभ्यासों से अध्यात्म के साधकों को सही पथ-प्रदर्शन मिलता है क्या ? यह एक प्रश्न है।

**अतः आवश्यकता हैं अच्छी तरह सतर्क हो जाने की, कि कहीं योग के नाम पर बहिर्मुखी तांत्रिक प्रक्रियाओं के प्रचार से योग के मूल उद्देश्य पर ही परदा न पड़ जाये।**

# उपोद्घात

भारतीय परम्परानुसार सृष्टि अनादि है तथा धर्म भी अनादि। अनादि होने से ही धर्म सनातन कहलाता है। अनादि होते हुए भी सृष्टि में क्रमिक विकास है। जातियों के आविर्भाव, उत्थान और पतन का जो कालानुसारी इतिहास मिलता है वह सृष्टि के क्रमिक विकास का ही सूचक है, पर ऐसे विकास का जो सदा अग्रगामी हो न रह, आवश्यकतानुसार, (विकास के उद्देश्य से) पीछे भी पलटता रहता है।

सृष्टि को अनादि, अनन्त, शाश्वत् तथा संतत गतिमान जानने के ही कारण, भारतीय द्रष्टाओं ने सृष्टि का कालानुसारी इतिहास न रख उसके शाश्वत् स्वरूप का शाश्वत् इतिहास लिखने का प्रयास किया है, वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत तथा अन्य ग्रन्थों में। वेदों में भी क्रमिक विकास, कर्म, उपासना और ज्ञान रूप से दिखाई देता है। वेदान्त शब्द से यह स्पष्ट है।

मानव के आविर्भाव के साथ ही उसमें विचारशक्ति भी उत्पन्न हुई। उपस्थित दृश्य के दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप उसके सन्मुख प्रश्न उपस्थित हो गये कि यह दृश्य क्या है ? कहाँ से आया ? कैसे बना ? किसने बनाया ? काहे से बनाया ? कैसे बनाया ? क्यों बनाया ? कब बनाया ?

साथ ही प्रश्नों की दूसरी श्रृंखला भी उठ खड़ी हुई कि जीवन में सुख दुःख जो प्राप्त होता है वह क्या है ? दुःख जो अनचाहे ही प्राप्त होता है उसका कारण क्या है ? क्या इससे बचा जा सकता है? यदि बचा जा सकता हो तो उससे बचने का उपाय क्या है?

इन प्रश्नों पर मनुष्य ने विचार किया और कर रहा है, स्यात् सतत करता भी रहेगा। इन प्रश्नों के उत्तर की खोज, बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी खोजियों द्वारा मनुष्य के प्रादुर्भाव के समय से ही चालू है। अन्तर्मुखी खोजियों की खोज का जो निष्कर्ष निकला, वह सन्मुख उपस्थित दृश्य के दर्शन स्वरूप होने से 'दर्शन' कहलाया जबकि बहिर्मुखी खोजियों का निष्कर्ष भौतिक ज्ञान पर आधारित होने से 'विज्ञान' कहलाया है।

भारतीय दर्शन में भी क्रमिक विकास प्रतीत होता है जो चार्वाक के भौतिकवाद से बादरायण के अध्यात्मवाद तक विकसित होता रहा। इन दर्शनों का कालानुसारी इतिहास उपलब्ध नहीं हैं, न उपलब्ध है विभिन्न दर्शनों के प्रस्तुतकर्ताओं की कालानुसारी जीवनी ही। इसलिए कौन दर्शन आगे बना और कौन पीछे, इसका कालानुसारी विवेचन असंभव ही है, पर उनका क्रमिक विकासानुसार विचार किया जा सकता है। वे दर्शन हैं :—

१. चार्वाक……………………प्रत्यक्षवादी
२. माध्यमिक…………………शून्यवादी
३. योगाचार…………………विज्ञानवादी
४. सौत्रान्तिक…………………क्षणिकवादी
५. वैभाषिक…………………क्षणभंगुरवादी
६. दिगंबर……………………देहातिरिक्त आत्मवादी
७. न्याय……………………अनात्मवाद निराकरणवादी
८. पूर्वमीमांसा………………कर्मप्रधानवादी
९. वैशेषिक…………………विशेष पदार्थवादी
१०. सांख्य……………………प्रधान पुरुषवादी
११. योग……………………ईश्वर प्रणिधानवादी
१२. अद्वैत……………………आत्मवादी

क्रमांक २, ३, ४ तथा ५ के अनुयायी बौद्ध सम्प्रदाय के हैं इससे उन्हें बौद्ध दर्शन कहते हैं। क्रमांक ६ का दर्शन जैन दर्शन कहलाता है। पर ये दार्शनिक विचार भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के पूर्व में नहीं थे, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा सकता हैं कि दर्शन के आरम्भ काल से ही ये सब दर्शन अस्तित्व में हैं—कभी किसी दर्शन का प्रभुत्व था, कभी किसी का। वर्तमान में भी सभी १२ दर्शनों के मानने वाले हैं हीं।

इन दर्शनों में से पहले ६ दर्शन वेद को आधार नहीं मानते इसलिए नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं। बाद के ६ दर्शन वेदों पर आधारित होने से आस्तिक दर्शन कहलाते हैं। नास्तिक दर्शनों ने ईश्वर की सत्ता को अमान्य ही किया है। आस्तिक दर्शन, न्याय, पूर्व मीमांसा, वैशेषिक और सांख्य ने भी ईश्वर की उपास्य तथा भक्ति योग्य सत्ता को मान्यता नहीं दी है। वे सब दर्शन कर्तृत्व पर ही आधारित हैं चाहे वह वैचारिक ही कर्म क्यों न

हो। योगदर्शन में ईश्वर की उपास्य सत्ता को मान्यता दी गई है इसोलि
पातञ्जल योगदर्शन को सेश्वर सांख्य कहते हैं। सांख्य में प्रकृति–प्रधान–
स्वतंत्र मानते हुए पुरुष अनेक की मान्यता है। योग दर्शन पुरुष अनेक
मान्यता के साथ, पुरुष विशेष, ईश्वर, को भी मान्यता देता है
प्रकृति को परतंत्र मानता है। यह दर्शन अद्वैत दर्शन के बहुत निकट है
यह भी कहा जा सकता है कि योग दर्शन अद्वैत सिद्धान्त की पूर्व पोठि
प्रस्तुत करते हुए भी कर्तृत्व पर जोर देता है, इसलिए उसके अनुया
प्रकृति और पुरुष की भी अलग सत्ता मानते हैं। अद्वैत दर्शन ज्ञान पर
जोर देता है और अभेद तथा नैष्कर्म्य का प्रतिपादन करता है। अद्वैत दर्श
के अनुसार चित्, चिति तथा चित्तस्थ पुरुष एक ही अभिन्न सत्ता के
रूप हैं। योग दर्शन में ईश्वर की पुरुष विशेष रूप से सत्ता स्वीकार कि
जाने से वेदान्त दर्शन के साथ उसका समन्वय भली प्रकार बैठ जाता है।

श्री पतञ्जलि मुनि इस योगदर्शन के साथ हो 'परमार्थ सार' नामक
ग्रन्थ के भी प्रणेता माने जाते हैं। 'परमार्थ सार' में अद्वैत सिद्धान्त का
प्रतिपादन है। एक ही ग्रन्थकार के दो अलग-अलग ग्रन्थों में विचार
वैभिन्नता यदि दिखती हो ता उन विचारों का समन्यवय ही उपादेय है।

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि योगदर्शन का कैवल्प और
वेदान्त की ब्रह्मानुभूति एकही स्थिति को इंगित करते हैं। पर दोनों में एक
सूक्ष्म अन्तर है। योग दर्शनानुसार कैवल्य की प्राप्ति वासनाक्षय तथा
मनोनाश द्वारा ही संभव है, जो कर्तृत्वाधीन है। वेदान्त जीव ब्रह्म के भेद
को ही अमान्य करता तथा कर्म का ही अभाव—नैष्कर्म्य—मानता है।
वेदान्तानुसार एक ही सत्ता सब नामों, सब रूपों में सर्वत्र और सदैव अपनी
गतिमत्ता में प्रवाहित है। 'मैं', 'तू', 'वह', 'यह', 'वह' 'सब' उस सत्ता का
ही व्यावहारिक रूप है। सब कुछ है 'नाम एव केवलं' तथा स्वयं शब्दातीत
है। उस शब्दातीत सत्ता को ही इंगित करने का प्रयास किया गया है
योगदर्शन में 'कैवल्य' द्वारा।

पूर्ण वही है जो आध्यात्मिक आधिदैविक तथा आधिभौतिक तीनों
रूप से पूर्ण हो। श्री पातञ्जल योगदर्शन ऐसा ही पूर्ण दर्शन है। आत्मा
स्वसंवेद्य है अतः अध्यात्म ज्ञान अन्तर्मुखता में ही स्वसंवेदनशीलता द्वारा
प्राप्त हो सकता है जबकि आधिदैविक तथा आधिभौतिक सत्ता का विवेचन
तटस्थ संवेदनरूप बहिर्मुखता में ही संभव है।

योग में अन्तमन में प्रविष्ट होने पर, चिति के चित् में विलय होने पर, समष्टिगत मन की अनन्त वा अनेक शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। ऐसे ही चमत्कारों को देखकर सामान्य जन ही नहीं, विद्वज्जन भी, योगशास्त्र को चमत्कारिक शास्त्र मानने लगे। विद्वानों ने इसकी तटस्थ संवेदनात्मक चमत्कार पूर्ण व्याख्यायें की और उन टीकाओं और भाष्यों में चमत्कारों का ही विशेष रूप से वर्णन किया। उसके आधार पर तन्त्र ग्रंथ भी लिखे गये। उनमें वर्णित चमत्कारों तथा योग सूत्र के विभूतिपाद में वर्णित विभूतियों से आकृष्ट हो बहुत से नवयुवकों ने अपने जीवन को उनके पीछे होम दिया। वस्तुतः वे चमत्कारिक शक्तियां अर्जित नहीं की जा सकती जैसा कि सूत्र ३-३६, ४-२ तथा ४-३ से स्पष्ट है। वे शक्तियां किसी क्रिया के आधीन नहीं हैं। उन शक्तियों का प्रादुर्भाव आवश्यकतानुसार, समयानुसार, व्यक्ति विशेष में, अन्तर्मन में प्रवेश वा अध्यात्म स्थिति में स्थित होने पर होता है। सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी चित् रूप ईश्वरी सत्ता का ही उन शक्तियों–सिद्धियों–के रूप में प्राकट्य होता है। वे शक्तियां किसी क्रिया विशेष पर आधारित नहीं हैं जैसा कि सामान्यतः समझा जाता हैं। जो शक्ति क्रियाधीन हो वह सिद्धि नहीं, सरकस या जादू का खेल उसे भले ही कहा जाय। उदाहरण स्वरूप त्राटक ही को लें। अभ्यास से त्राटक सिद्ध होना आवश्यंभावी नहीं है, पर योग स्थिति में वह सहज ही सिद्ध है। सूरदास ने उसे निम्न रूप से व्यक्त किया है :—

> "अंखियन की सुधि भूल गई।
> लिखी चित्र सी ह्वै गईं इक टक पल बिसराय।।

द्रष्टापने का अहंकार मिटते ही त्राटक आपही आप, बिना प्रयास ही सिद्ध हो जाता है।

भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थ, स्वसंवेदनशीलता के ही आधार पर ग्राह्य हैं। स्व-संवेदनशील ग्रंथों की विशेषता है, उनके शब्दों की ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता तथा स्वात्मकता। उन्हें 'स्व' में ही शब्दों की ध्वनि के आधार पर उनके प्रतीकात्मक अर्थ को ग्रहण करना पड़ता है।

कुण्डलिनी योग पर, स्वसंवेदनशीलता के आधार पर लिखा एक निबन्ध, प. पू. स्वामी सत्यानन्द जी महाराज मुंगेर वालों को, उनके रायपुर प्रवास पर दिया गया था। उस पर उन्होंने यद्यपि कोई स्पष्ट

विचार व्यक्त नहीं किया पर अपने प्रवचन में कहा कि कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिये एक लाख एक उपाय हैं। अर्थ निकला कि वह निबन्ध अमान्य नहीं हुआ। उस निबन्ध की एक प्रति प.पू. स्वामी सप्रेजी महाराज, रायपुर, को दी गई। उस पर उनका मन्तव्य मिला कि वह एक शोधपूर्ण बौद्धिक निबन्ध है। उक्त मन्तव्य के साथ उन्होंने यह भावना भी प्रकट की कि योग सूत्र पर भी स्व संवेदनशीलता के आधार पर टीका लिखी जाय। उस भावना को उनका आदेश मान यह टीका लिखना आरम्भ हुआ, इसी विश्वास के साथ कि यह कार्य प. पू. स्वामी जी के आदेश से हो रहा है अतः यह अनधिकार चेष्टा नहीं है। पर प्रश्न बना ही हुआ है कि योग सूत्र पर महान् विद्वानों तथा अधिकारी पुरुषों के अनेक भाष्य, वृत्ति वा टीका मिलते हैं तो फिर इस टीका की क्यों आवश्यकता पड़ी ?

जैसा कि ऊपर लिखा गया है, योगियों के चमत्कारों को देखकर योगदर्शन को चमत्कार की विद्या मान उस पर बहिर्मुखी विवेचन के आधार पर, पर-भाव में, तटस्थ संवेदनात्मक भाष्य वा टीका लिखे गये जो दर्शन के आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूप पर ही प्रकाश डालते हैं। उन्हें पढ़कर बहुतों ने उन चमत्कारों—सिद्धियों—की प्राप्ति हेतु कठिन अभ्यासों को करते हुए अपना जीवन होम दिया। उन अभ्यासों से कोई भी चमत्कारिक न हुआ, कारण कि बिना आध्यात्मिक आधार के आधिदैविक या आधिभौतिक शक्तियां प्राप्त ही नहीं हो सकतीं जबकि आध्यात्मिक स्थिति में सब सिद्धियां उपलब्ध ही रहती हैं जैसा कि कहा गया है :—

"सर्वात्मभावनावन्तं सेवन्ते सर्व सिद्धयः"

जिन व्यक्तियों में कुछ चमत्कार देखे गये वे उन्हें उनके आध्यात्मिक स्थिति की देन है। उन्हें वे चमत्कारिक शक्तियां सहजहीं अकर्तृत्व भाव में प्राप्त हुई प्रतीत होती है। इसलिए ऐसी एक टीका की 'स्वान्तः सुखाय' आवश्यकता प्रतीत हुई, जो चमत्कारों के प्रदर्शन हेतु न हो, सूत्रों के यथार्थ को स्व-संवेदन द्वारा इंगित करे तथा योग और वेदान्त में समन्वय बैठावे। इस आवश्यकता का अनुभव कर, इस ढिठाई के साथ कि 'सांप का मंत्र न जाने और सांप के बिल में हाथ डाले' यह काम पूरा हो गया।

इस टीका के प्रेरणा स्रोत हैं प. पू. स्वामी नारायन (सप्रे) जी महाराज। उन्हें यह टीका स्वीकार्य नहीं हुई कारण कि पुरानी भाष्यों या

टीकाओं की परम्परा से हटकर इसमें सूत्रों के अन्तर्मुखी अर्थ किये गये हैं। स्वामी जी को स्वीकार्य न होने से इसके प्रकाशन का विचार ही न था पर प. पू. योगी शंकरनाथ जी महाराज, नवलेश्वर मठ, बीकानेर वालों से जब इसकी चर्चा हुई तो उन्होंने इसे सुनकर इसके प्रकाशन का आदेश दिया अतः यह प्रकाशित की जा रही है; फिर भी इसे महात्माओं के आशीर्वाद और विद्वजनों के अभिमत हेतु ही प्रसारित किया जा रहा है।

इस टीका में सूत्रों की टीका केवल शब्दार्थ रूप से ही की गई है। कहीं-कहीं 'विशेष' रूप से कुछ टिप्पणी अवश्य दी गई है ताकि सूत्रों का भाव स्वसंवेदनशीलता से ग्रहण करना सरल हो जाय, परंतु भाव ग्रहण होगा स्वयं द्वारा मनन करते हुए स्वयं को ही।

**"जो दर्पण बनावे इन पंक्तियों को।**
**वह आत्मा सुख सा सुख पावे निश्चय ही॥**

# भूमिका

## स्वसंवेदनशीलता
### भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थों का आधार

यह टीका स्वसंवेदनशीलता के आधार पर लिखी गई है। स्वसंवेदनशीलता क्या है ? यह प्रश्न स्वाभाविक ही उठता है। स्वसंवेदनशीलता स्तयं स्वसंवेदनशील है। तटस्थ संवेदन द्वारा उसे इंगित मात्र किया जा सकता है और वही करने का प्रयास किया गया है इस भूमिका में, पाठक उसे ही प्रमाणभूत न मान बैठें, वे उसे द्राष्टान्त-रूप मान स्वयं ही स्वयं के मनन द्वारा उसे ग्राह्य करने का प्रयास करें।

# १.

संवेदनशीलता . | किसी भी शब्द, कथन अथवा तथ्य का अर्थ दो प्रकारों से ग्रहण होता है। एक तो स्वतः का स्वानुभूतिपूर्ण अर्थ ा दूसरा, दूसरों द्वारा बतलाये जाने पर। पहले प्रकार को स्वसंवेदन ा दूसरे प्रकार को तटस्थ संवेदन कहा जाता है। स्व-संवेदन -जीवन से घनिष्ठता रखता है। स्वजीवन की गति को अनुभूति ही स्व-संवेदन की अनुभूति है। स्व-संवेदन का स्फुरण प्रत्येक ा होता ही रहता है, परन्तु अहंयुक्त आवरण के कारण उसका ण नहीं होता। वेदना और संवेदना स्व-संवेदना पर चढ़ी हुई त हैं, या यों कहिए कि स्व' पर आरोपित हैं। यद्यपि तीनों ाति में अनुभूति भिन्न है परन्तु 'स्व' प्रत्येक स्थिति में वर्तमान ता हैं। समस्त अनुभूतियाँ 'स्व' को ही हो रहीं हैं। 'स्व' ाकाशित रहने के कारण स्वानुभूति का लाभ नहीं होता चूंकि संस्कारों लदी जीवन — गति स्वानुभूति कराने में असमर्थ है, संस्कारों के रोपण को पूर्ण विराम की आवश्यकता है।

स्व-प्रकाश पाने को ही, जीव का सतत भ्रमण हो रहा है। -प्रकाश ही उसकी मूल स्थिति है। इसी स्थिति में वह स्व-जीवन से ाह-युक्त होता है। उसकी यह मूल स्थिति स्व-संवेदन से परिपूर्ण है। वन चक्र चाहे स्व-आरोपित हो, चाहे स्व-गतिमान, स्व पर ही परिभ्रमण ता है, अन्तर इतना है कि पहिली स्थिति में वह 'स्व' को अत्याधिक च्छादित सा करता जाता है, परन्तु दूसरी स्थिति में वह स्व-प्रकाशित ता है। प्रथम स्थिति जन्म जन्मान्तर में भी स्वानुभूति नहीं होने देती, द कुछ भास भी हुआ तो वह मृगजल सदृश्य ही होगा।

स्व-संवेदन कोई नवीन जीवन प्रणाली नहीं है, पर वह जीव की ातः शाश्वत जीवन स्थिति है। वह मूल स्थिति में आवरणरहित है कारण प्रकाशमय है। अनुभव लें। सचमुच आनन्दमय स्थिति है। भूत, विष्य, वर्तमान् इस शाश्वतक्षण का अविभाजित, असीमित या अखण्ड

फैलाव है। वर्तमान, भूत, भविष्य केवल नाममात्र के आवरण हैं।
भयभीत होने का कारण नहीं है। वे शाश्वत् संवेदन की अनुभूति
अवरूद्ध भी नहीं करते। उस क्षण की अनुभूति को ग्रहण करने की ही
है कि समस्त संचित तटस्थ संवेदनात्मक संस्कारों का आवरण निरा
हो लापता हो जाता है। स्वसंवेदन अथवा स्वानुभूति के लिए के
आध्यात्मिक जिज्ञासा की आवश्यकता है। जिस प्रकार तृषातुर को
आवश्यक है, उसी प्रकार स्वानुभूति के लिए आध्यात्मिक जिज्ञासा
उतनी ही आवश्यक हैं। आध्यात्मिक जिज्ञासा की तृप्ति स्वानुभूति ही क
है और फिर वह ऐसी तृप्ति होती हैं कि प्यास फिर कभी लगती ही
क्योंकि जीव सदैव प्रकाशमय स्व-जीवन धारा में समाया हुआ रहता
यह आनन्द का वह सागर है जिसमें एक बार समा जाने पर जिज्ञासा
तृषा भी उसमें विलिन हो जाती है। शाश्वत जीवन से प्रवाहयुक्त
आनन्द प्राप्त करना ही जीवन का एकमात्र ध्येय है। इसी शाश्वत
में स्व-जीवन शरणागत है।

स्व-जीवन की अनुभूति का लाभ उठाना है तो अकर्मण्य
अकर्तृत्व पद पर अडिग हो जायें। यह अनुभूति अत्यंत हो सुगम होने
कुछ करने या न करने की जरूरत नहीं है। इस अकर्मण्यता
अर्थ है आध्यात्मिक अकर्मण्यता से; जिसमें मन तथा बुद्धि
अकर्मण्य रहते हुए भी शरीर से सब कुछ कुशलतापूर्वक होता
रहता है। यह अकर्मण्यता हो स्वानुभूति का आधार है
बहिर्मुखी शारीरिक अकर्मण्यता से भिन्न है। यह अकर्मण्यता शरीर
अवयवों से कुछ न करने के संकल्प से नहीं प्राप्त होती। सरल
सामान्य जीव को स्वानुभूति शीघ्र उपलब्ध होती है, वह उपलब्धि में
जीता है, पर असामान्य जन—विद्वज्जन—इस अनुभूति को प्राप्त करने
लिये, तन, मन, धन से कुछ करना आवश्यक समझ, उसे पाने का प्र
करता हैं, और इस प्रकार स्व-संवेदन के मार्ग में अधिक संस्कार संचि
करता जाता है, जिससे 'स्व' पर संस्कार रूपी काले बादल का आच्छा
घना होता जाता हैं और वह स्व-जीवन की स्वानुभूति से विमुख
रहता है।

इस स्वानुभूति का गान सनातन से ही वेदों में निहित है।
ानुसार जनसाधारण के उपयुक्त बनाने हेतु अन्य ग्रन्थों में
ारणीकरण द्वारा उसे सुगम बनाया गया परन्तु संस्कारवशात् साधारण
को वह सुगमता कठिन सी प्रतीत होती है, कारण कि साधारणीकरण
ग्रन्थों में जो वर्णन किया गया, उसे बहिर्मुखता में देखा जाने लगा—
में लौकिक इतिहास खोजा जाने लगा। यह ही कहना होगा कि उसकी
मता ही कठिनाई हो गई।

इसी भ्रम के कारण साधारण जन स्वानुभूति से विमुख हो रहे हैं।
ह भूल जाते हैं कि असाधारण जन की अपेक्षा, साधारण जन को ही
नुभूति का लाभ शीघ्र होता है, संस्कारों का आच्छादन हलका होने के
ण, स्वानुभूति असाधारण है—असंभव है—ऐसी मान्यता लेकर
: माध्यमों से उसे पाने की चेष्टा करना, इस अनमोल जीवन को
र्थक व्यतीत करने समान होता है। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण
नुभूति से परिपूर्ण है और यह स्वसंवेदनात्मक स्वानुभूति इतनी सरल,
म, सहज वा सुलभ है कि इस जीवन को एकक्षण भर में ही सार्थक
देती है। अद्भुत तो यही है कि स्वानुभूति क्षण भर की है परन्तु
के गुणों का वर्णन अपार है :--

"असित गिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे,
सुरतरुवर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

स्वजीवन की गति में, पाठक, शाश्वत् सत्ता में स्वयं गतिमान हो,
र्मुखता में स्व-संवेदन द्वारा स्वानुभूति ग्रहण करें. इस हेतु ही
वेदनशील भारतीय साहित्य, शाश्वत् सत्ता, जो विश्वमात्र है, की
भूति का मार्ग प्रशस्त करना है।

## २.

**स्वसंवेदनशील ग्रन्थों की विशेषता :**
**१. ध्वन्यात्मकता ।**

भारतीय अमर ग्रन्थों की र
किन्हीं संकल्पों और विचारों से नहीं की गई । उनकी रचना स्वानु
की अभिव्यक्ति की छटपटाहट में स्वयमेव ही हो गई । संत कबी
इसे बड़ी सुन्दर रीति से व्यक्त किया है : –

> "शब्द सुरति और निरति मिलि कहिब को हैं तीन ।
> निरति उलटि सुरतहिं मिलै सुरति ह्वै शब्द लवलीन ।।
> शब्द बिना सुरति आंधरी कहो कहां को जाय ।
> द्वार न पावै शब्द का इत उत भटका खाय ।।
> जाप मरै अजपा मरै अनहदहू मरि जाय ।
> शब्द समानो सुरति में ताहि काल नहिं खाय ।।
> (सुरति या सुरत=स्मृति; निरति=विस्मृति)

तटस्थ संवेदनात्मक, पराई आंखों के दर्शन रूप, अन्यों
प्राप्त मान्यता रुप परोक्ष ज्ञान यथार्थ से दूर रहता है अतः वह विस
निरति है । यह जानते ही कि हमारी मान्यतायें पराई आंखों को देन
विस्मृति मिट अपनी आंखों का –अपरोक्ष– दर्शन हो, स्मृति प्राप्त होती
इस स्थिति को दर्शाया गया है 'निरति उलटि सुरतहिं मिलै" शब्दों द्वा
इस स्थिति का ही दर्शन कराया गया है श्रीमद्भगवद्गीता में "
मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा" शब्दों द्वारा ।

इस स्मृति प्राप्त, तटस्थ संवेदन विहीन, स्व–संवेदनशील स्थिति
अपनी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की छटपटाहट में, "सुरति ह्वै
लवलीन" और शब्दों की खोज होने लगती है; पर "शब्द बिना सु
आंधरी कहो कहां को जाय", निर्दोष शब्द मिलते ही नहीं । शब्द
अपूर्ण और तटस्थ–संवेदनात्मक होने के कारण, न वैखरी वाणी द्वार
मध्यमा और पश्यन्ती वाणी द्वारा ही उस स्वानुभूति की अभिव्यक्ति
सकती है, इसलिये कहा है, "जाप मरै अजपा मरै अनहदहू मरिजा

पर बिना अभिव्यक्ति के रहा नहीं जाता और वह अभिव्यक्ति "सुरति समानों शब्दों" द्वारा हो ही जाती है। उस अभिव्यक्ति हेतु जो भी नाद-ध्वनि-का स्फोट प्रकट होता है उस पर अर्थों का आरोप हो ही जाता है। ऐसे स्वानुभूतिपूर्ण शब्दों को "काल नहिं खाय"। वे शब्द अमर हो जाते हैं।

तटस्थ-संवेदनात्मक शब्द अपने प्रथम आविर्भाव काल में स्वानुभूति को अभिव्यक्ति रूप, स्व-भाव में स्फोटवत् ही प्रकट होता है। पर-भाव में वही स्फोट विस्मृति रूप हो जाता है। वस्तुतः स्मृतिजनक तथा विस्मृति कारक शब्द अभिन्न रूप ही हैं। इसलिए कहा गया है : "शब्द सुरति अरु निरति मिलि कहिबे को हैं तीन"। कहने ही के लिये उनमें भिन्नता है—हैं एक स्फोट ही।

स्पष्ट है कि भारतीय अमर ग्रन्थ ध्वनि रूप ही स्वानुभूति की अभिव्यक्ति हेतु निर्मित हुए। अतः ध्वनि ही उनकी आत्मा है। श्रवण ही माध्यम है उनके ध्वनि को यथार्थ रूप से ग्रहण करने का। यही कारण है श्रुतियों के ठीक से उच्चारण पर जोर दिये जाने का। इस ध्वनि तत्त्व का बड़ा ही सुन्दर तथ्यपूर्ण विवेचन किया गया है ध्वन्यालोक में :—

"जिस ग्रन्थ या काव्य विशेष में शब्द तथा अर्थ अपने अर्थ को त्याग प्रतीयमान को व्यक्त करते हैं वह ध्वनि काव्य कहलाता है। जिस अर्थ का सौंदर्य अन्य किसी प्रकार से प्रकाशित नहीं किया जा सकता, वह प्रकाशित होता है शब्द की ध्वनि से। किसी भी काव्य या ग्रन्थ के दो अर्थ होते हैं, वाच्य तथा प्रतीयमान। प्रतीयमान अर्थ महाकवियों की वाणी में वाच्यार्थ से अलग ही भाषित होता है। वही प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा है। शब्द काव्य का शरीर है, सामान्य वाच्यार्थ काव्य के शरीर का अलंकार है। दोनों जड़ हैं। सहृदय श्लाघ्य प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। ध्वनि उसे इंगित करती है पर प्रतीयमान अर्थ आत्मा सदृश्य ही स्वसंवेद्य है, और स्वसंवेदन से ही ग्राह्य है प्रतिबिंब से बिंबवत्।

शब्द अर्थ तथा उनके अलंकार गढ़े जाते हैं पर प्रतीयमान अर्थ को प्रकाशित करने हेतु महाकवियों की वाणी अलौकिक प्रतिभा सम्पन्नता के साथ ध्वनि रूप प्रवाहित होती है। यह प्रवाह निर्विकल्प स्थिति में 'सुरत समानों शब्द' रूप अनगढ़े ही प्रकट होता है। शब्द और उसके अर्थ की शक्ति स्वभावतः अत्यन्त सीमित होने से अनुभूति जैसी वस्तु का भाषा के माध्यम से प्रेषण एक असंभव सा कार्य है। इस स्वानुभुति को पाठकों—

श्रोताओं---के हृदय तक पहुँचाने के लिए, कवि---ऋषि---द्रष्टा---अपनी वाणी के प्रवाह में प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम का सहारा लेता है ताकि उसके रागात्मक प्रयोग से पाठकों अथवा श्रोताओं के मन के भावों को मिटाकर भावातीत भाव को जागृत किया जा सके।

सर्वप्रथम, किसी भी काव्य या ग्रन्थ को पढ़कर वस्तु-ध्वनि प्राप्त होती है जो भौतिक विषयों के संबंध में दृष्टिगोचर या कर्णगोचर संवेदना उपस्थित करती है। उस संवेदना से अलंकार–ध्वनि उन विषयों का वाक्चित्र उत्पन्न करती जिसके परिणाम स्वरूप स्वतंत्र विचार या भाव उत्पन्न हो, रस–ध्वनि प्राप्त होती है जो वाच्यार्थ से पृथक रसानुभूति कराने की क्षमता रखती है। यह ध्वनि तत्त्व वाणी द्वारा अवर्णनीय है पर सहृदय-जन संवेद्य और अनुभव गम्य है।

वाच्यार्थ नियत और सीमाबद्ध होता हैं पर प्रतीयमान व्यंग्यार्थ असीमित होता है। वाच्यार्थ पहले समझ में आता है, प्रतीयमान बाद में। वाच्यार्थ अर्थ मात्र से विदित होता पर ध्वन्यार्थ—प्रतीयमान—को समझने के लिए विशुद्ध बुद्धि की आवश्यकता होती है। वाच्यार्थ से केवल अर्थ की प्रतीति होती है पर प्रतीयमान अर्थ सहृदयों के मन में चमत्कार उत्पन्न करता है। काव्य या भारतीय अमर ग्रन्थों का यथार्थ—प्रतीयमान—शब्द ज्ञान मात्र से नहीं जाना जा सकता है। उसे तत्त्वज्ञ ही जान सकते हैं।

२. प्रतीकात्मकता।—ध्वन्यात्मकता, स्वसंवेदनशील भारतीय अमर ग्रन्थों की विशेषता तो है ही; इसकी दूसरी विशेषता है उनके कथानकों की प्रतीकात्मकता।

प्रतीयमान को प्रतिपादित करने वाले शब्द कोई-कोई ही होते हैं। उनसे इंगित होने वाले प्रतीयमान अर्थों को समझने के लिये, उन शब्दों को तथा उनसे प्रतीयमान अर्थों को प्रयत्नपूर्वक पहचानना पड़ता है। प्रतीयमान–यथार्थ–को जानने के लिए प्रतीकात्मक संकेत और अर्थ का ज्ञान आवश्यक है। सहृदय के मन को, अर्थ न समझ आने का असंतोष, शब्द तथा उनके संकेतार्थ, वाच्यार्थ और उसके प्रतीयमान अर्थ को जानने हेतु, उसकी जिज्ञासा को जाग्रत कर, उसे, आलोकार्थी को जिस प्रकार दीपशिखा हेतु यत्नवान बना देता है, उसी प्रकार उपायवान बना देता है। अतः वाच्यार्थ से विमुख—सहृदयों की तत्त्वदर्शिनी बुद्धि में प्रतीयमान अर्थ तुरन्त

ही प्रतीति में आ जाता है। ध्वनि में वाच्यार्थ से प्रतीयमान की प्रतीति तर्क के सहारे न होकर सहृदयता, भावुकता तथा कल्पनाओं के द्वारा ही होती है, साथ ही प्रतीयमान से वाच्यार्थ का कोई नियत सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है। जब शब्द में साधारण अर्थ से भिन्न असाधारण अर्थ भरा हो तो स्वाभावतः ही उसमें व्यंजना का सहारा आ जाता है और भाषा पूर्णतया प्रतीकात्मक और सांकेतिक हो जाती है। इस सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता को श्रोता या पाठक को स्वयं समझना पड़ता है, स्वसंवेदन द्वारा ही। और कोई माध्यम है ही नहीं।

सामान्य शब्दों तथा परंपरागत अलंकारों में गूढ़तम विचारों, भावनाओं एवं अनुभूतियों के समुचित प्रकाशन की क्षमता नहीं होती। प्रतीकों द्वारा भाषा में एक नवीन शक्ति उत्पन्न होती है। प्रतीक में सूक्ष्म निर्देशन की असीम शक्ति होती है। प्रतीकात्मक व्यंजना अनबोले ही बोलने से अधिक अर्थ-संकेत पाठक के सामने बिखेर देती है। प्रतीकों में एक साथ ही गोपन और प्रकाशन की क्षमता रहती है, परिणामस्वरूप मौन और वाणी के सम्मिलित कार्य से दोहरे अर्थ की अभिव्यंजना होती है। शब्द केवल अर्थ की व्याख्या कर सकते हैं, किन्तु प्रतीक संयोग और संकेत की शक्ति से परिपूर्ण रहते हैं और उस यथार्थ को इंगित करते हैं जिसका वर्णन शब्दों द्वारा संभव नहीं। अतः उनका प्रभाव हमारी प्रज्ञा पर पड़ता है।

३. स्वात्मकता।— इन ग्रंथों की तीसरी विशेषता है उसका 'स्व' पर ही आधारित होना। ये अमर ग्रन्थ 'पर' परक नहीं हैं। चाहे जितने पात्रों, नायक-नायिकाओं, दूती, सखी, काल वा देश का वर्णन हो वह सब 'स्व' की विशालता ही में सीमित होते हैं—वे अन्तःप्रदेश के ही निवासी होते हैं। उनमें 'स्व' की ही कहानी होती है। अन्तर्मुखता में पर-विहीनता ही रहती है। उस 'स्व' में—एकान्त में—अद्वैत ही रहता है। 'एक' में 'अनेक' की कल्पनायें नहीं अनुभूति रहती हैं। एक सत्ता पर ही सब खेल, नर्तन, रास होता रहता है—सतत वर्तमान के स्थायी क्षण में, देश और काल की सीमा में, सीमा रहित होकर। बड़ा अनोखा खेल है। अनुभव का विषय है, कल्पना का नहीं, तटस्थ संवेदनात्मक कथन का तो कदापि नहीं!

भारतीय अमर ग्रंथों में जो अलौकिक कथन भरे पड़े हैं, कल्पना के आधार पर उनमें लौकिक इतिहास खोजते हुए, उनका जो अर्थ लगाया

जाता है, उससे क्या उनको अलौकिकता का स्पष्टीकरण हो शंका रहित अर्थ प्राप्त होता है ? किसी भी कथन का निश्चितार्थ वही हो सकता है जिससे चित्त का समाधान हो जाय। जिस अर्थ से चित्त का समाधान न हो संशय, विपर्यय बना रहे, शंकाओं का मूलोच्छेदन न हो, वह उसका अर्थ नहीं। विद्वानों के अर्थ में शंका को गुंजाइश रहती है, पर विश्व की सारी विद्याओं का जो केन्द्र है—मूल तत्त्व है—सर्वाधिकार भगवान् आत्मा "मैं" (स्व) उसके कहने से भी यदि चित्त समाहित न हुआ तो कैसे होगा ? हमेशा इस बात का ध्यान रखा जाय कि जब तक चित्त का समाधान न हो, तब तक यह जानना चाहिए कि वह उसका अर्थ नहीं है। यही स्वसंवेदन-शीलता से अर्थ ग्रहण करने की पहिचान है—कसौटी है।

## ३

स्वसंवेदनशील ग्रन्थो का गठन |—काव्य इतिहास या कोई भी प्रबन्ध आध्यात्मिक आधार पर गठित होने तथा आधिभौतिक और आधिदैविक रूप से पूर्ण होने पर ही स्थायित्व को प्राप्त करता है। आध्यात्मिक आधार विहीन साहित्य क्षणिक वा सामयिक रूप ही धारण कर सकता है। राम कथा कृष्ण गाथाओं पर, मान्य अमर कृतियों को छोड़, न मालूम कितनी रचनायें लिखी गईं, कितना आशीर्वाद नहीं प्राप्त किया गया, पर क्या वे आकांक्षायें और आर्शीवाद फलित हुए ? नहीं; कारण कि उनमें आध्यात्मिक आधार न था। भवभूति का 'उत्तर रामचरित' अपने समय में मान न पाने पर भी अमर काव्यों में स्थान पाचुका है, क्योंकि उसकी रचना का आधार आध्यात्मिक था। अतः यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि भारतीय परम्परा पर गठित अमर ग्रन्थों का आधार आध्यात्मिक है।

अपौरुषेय वेदों के आधार पर बाल्मीकि, व्यास प्रभृति अमर महापुरुषों ने जिन अमर ग्रन्थों का निर्माण किया है उनका उद्देश्य--एक मात्र उद्देश्य—अमृतत्व प्राप्त कराना है। उन ग्रन्थों में लौकिक इतिहास खोजना महान भूल है। उन ग्रन्थों का आधार इतिहास या ऐतिहासिक गाथायें भले ही रही हों पर उनका उद्देश्य लौकिक इतिहास लिखने का न था। श्रीमद्भागवत के द्वादश स्कन्ध के तीसरे अध्याय के चौदहवें श्लोक का भाव है :—

"बड़े-बड़े राजा जो यश फैलाकर चले गए, उनकी ये गाथायें केवल विज्ञान वा वैराग्य की शिक्षा देने हेतु कही गई हैं। वे कथायें केवल वाणी—विलास—वचोर्विभूति---मात्र हैं, परमार्थतः सत्य नहीं'। इन ग्रन्थों में कथाओं का चयन और प्रबन्धों के गठन में भी वही उद्देश्य निहित है।

रामायण का सात काण्डों में विभाजन; महाभारत में १८ पर्व, १८ दिन का युद्ध, १८ अक्षौहिणी सेना, १८ अध्यायों में गीता का गान, १८ श्लोकों में स्थित प्रज्ञता का दर्शन, युद्धान्त के अन्त में कृष्ण के अतिरिक्त केवल अन्य ८ के बच रहने का वर्णन; श्रीमद्भागवत में १२ स्कन्धों का होना और उसके आधार पर प्रणीत गतिगोविंद में भी द्वादश सर्ग होना विचारणीय है। इन ग्रन्थों के इस प्रकार गठित होने में भी कोई उद्देश्य है क्या ? रामायण का नवाह्न पाठ होता है तथा श्रीमद्भागवत का सप्ताह पाठ। यह भेद भी किसी प्रयोजन से है या यों ही ?

"सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञान नयन निरखत मन माना"॥ के आधार पर, रामायण का सात काण्डों में विभाजन; ज्ञान की सप्त भूमिकाओं के आधार पर किया हुआ विभाजन प्रतीत होता है। ऐसा विभाजन होते हुए भी "यहि मंह आदिमध्य अवसाना। श्रुतिप्रति—पाद्य राम भगवाना॥" जिससे ध्वनित होता है कि पूरे रामायण में 'श्रुतिप्रति पाद्य राम' का बखान है, किसी ऐतिहासिक रामनामी प्राकृत जन' का नहीं।

ज्ञान की सप्त भूमिकायें हैं, महोपनिषद के आधार पर, (१) शुभेच्छा (२) विचारणा (३) तनुमानसा (४) सत्त्वापत्ति (५) असंसक्ति (६) पदार्था भावनी तथा तुर्यगा। रामायण के बाल काण्ड में जितने भी पात्रों का वर्णन है उन सबको राम को जानने की शुभेच्छा पैदा हुई है। अयोध्याकांड में जितने भी पात्रों का वर्णन है उन सबने विचारणा की है—स्वयं रामचन्द्र जी ने भी। अरण्य काण्ड में वर्णित सब पात्र 'राम' में तन्मय हुए हैं, स्वयं रावण भी, जब वह कहता है 'तौ मैं जाय बैर हठकरिहौं"। किष्किन्धा काण्ड की—सत्त्वापत्ति भूमिका में सबको उनका दर्शन हुआ—सबने उन्हें पहचाना है। सुन्दर काण्ड–असंसक्ति भूमिका–में दर्शन के बाद की अनासक्ति का, सब कुछ 'रामकाज' हो जाने का वर्णन होने से 'सुन्दर' काण्ड है। कितना

यथार्थ नाम है। दर्शन प्राप्ति के बाद की स्थिति से भी कोई सुन्दर स्थिति हो सकती है ! लंका काण्ड—पदार्था भाविनी भूमिका—में सब निशिचर भी रामाकार हो जाते हैं। उपासक और उपास्य, सेवक और सेव्य, के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों का अभाव हो जाने से ही यह पदार्था भाविनी भूमिका है। उत्तर काण्ड—तुर्यगा भूमिका—में ज्ञानोत्तर प्रज्ञा प्राप्ति का, दासोऽहं की प्रतीति का सोऽहं की प्रतीति में बदल जाने का, तथा भक्ति दशा की, तुरीयस्थिति की प्राप्ति का वर्णन है। अपने आश्रम स्थित कागभुशुण्डि रूपी अपरोक्ष दर्शन द्वारा वेदशास्त्र विवेचन द्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान रूपी गरुड़को अपरोक्षानुभूति करा, तुरीय स्थिति में स्थित करा दिया गया है इस काण्ड में। इस दृष्टि से रामायण का सात काण्डों में विभाजन यथार्थतः ज्ञान की सप्त भूमिकाओं पर किया हुआ विभाजन प्रतीत होता है। इन्हीं सप्तज्ञान भूमिकाओं के आधार पर ही रामायण की सात काण्डों में रचना हुई है।

महाभारत अद्वैत ब्रह्म तथा उसकी अष्टधा प्रकृति का कीर्तिमान है। अतः उसमें १८ संख्या को मान दिया गया है। अद्वैत ब्रह्म अपनी अष्टधा शक्ति सहित पूर्ण है। १+८=९ की संख्या भी पूर्ण है, जो न कभी बढ़े न घटे, चाहे जितना विस्तार किया जाय या संकोचन किया जाय। ८ संख्या की विशेषता हैं कि विस्तार होने पर घटती है पर पूर्ण संख्या ९ से गुणित होने पर स्वयं पूर्ण हो जाती हैं। महाभारत में १८ संख्या को महत्व देना आकस्मिक नहीं है। वह सहेतुक है। पूर्णत्व में—अद्वैत में—महाभारत या कोई भी लीला हो नहीं सकती—दिख भी नहीं सकती, जब देखने दिखने वाले भिन्न नहीं। लीला—सांसारिक व्यवहार—महाभारत—द्वैत में ही—ब्रह्म और माया के अलग, पर एकत्र रहते हुए हो संभव है। यह है महाभारत के १८ संख्या का महत्व। १ ब्रह्म के प्रतीक हैं कृष्ण तथा ८, पंच महाभूत तथा मन, बुद्धि तथा अहंकार के प्रतीक हैं पंच पांडव, तथा कृतवर्मा कृपाचार्य तथा अश्वत्थामा जो महाभारत युद्ध के बाद बचे दिखाये गये हैं।

श्रीमद्भागवत भक्ति प्रधान ग्रन्थ है। जीव—ब्रह्म, प्रकृति—पुरुष, भक्त—भगवान, के प्रेम का बखान है। श्रीमद्भागवत महापुराण, गायत्री स्वरूप होने से 'सवितुः' के द्वादश नामों के आधार पर उसकी रचना बारह स्कन्धों में हुई है। गीत गोविंद के बारह सर्गो का विभाजन भी इसी आधार पर है। इन ग्रन्थों में उस स्थिति का वर्णन है

'यत्र न भासयते सूर्यो न शशांक:" फिर भी द्वादशादित्य के आधार पर ग्रन्थ रचना का अपना महत्व है। वस्तुत: ये ग्रन्थ पर्व, काण्ड, स्कन्ध वा सर्गों में विभाजित होते हुए भी वे विभाजन रहित हो पूर्ण हैं। इनमें अथ से इति तक 'रामकथा' ही कथित है इनका यह विभाजन ऐसा विभाजन है जिसका हर भाग पूर्ण है—पूर्ण ही पूर्ण। आदित्य भी द्वादश नामों में व्यक्त होने पर भी अपनी स्थिति पर मास वा ऋतु विहीन ही तो स्थित हैं अपने पूर्णत्व में ही।

रामायण, ज्ञान प्रधान ग्रन्थ है, तो श्रीमद्भागवत भक्ति प्रधान ग्रन्थ तथा महाभारत कर्म प्रधान ग्रन्थ है। ज्ञान और भक्ति के समन्वय हेतु श्रीमद्भागवत के सप्ताह पाठ का आयोजन होता है ज्ञान की सप्त भूमिकाओं के आधार पर, रामायण का नवाह्न पाठ होता है नवधा भक्ति के आधार पर। इन ग्रन्थों के सप्ताह पाठ तथा नवाह्न पाठ का विभाजन भी इसी आधार पर गठित है। महाभारतान्तर्गत गीता में कर्म, ज्ञान, भक्ति का समन्वय है ही।

## ४

**रामायण का स्वसंवेदनशील अर्थ**

रामायण के संबंध में, गोस्वामी तुलसीदास जी रामायण के श्रोता-वक्ता की परम्परा शिव-उमा, शिव-कागभुशुण्डि, कागभुशुण्डि–याज्ञवल्क्य, याज्ञवल्क्य–भरद्वाज 'औरउ जे हरि भगत' का वर्णन करके कहते हैं "मैं पुनि निज गुरु सन सुनी" पर "समुझी नहि तसि"—जैसा चाहिए नहीं समझ सका; कारण कि "तब अति रहेउं अचेत", यद्यपि अपने गुरु को और अपने को 'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि" घोषित किया है। न समझने का कारण बतलाया है "कथा राम कै गूढ़"। "तदपि कही गुरु बारहिं बारा" तब "समुझि परी कछु मति अनुसारा"। स्पष्ट हैं कि तटस्थ संवेदन से यथार्थ का अनुभव हो ही नहीं सकता तो भी तटस्थ संवेदन स्वसंवेदन की जननी होने से, बार-बार श्रवण करने से, उस कथन की ध्वनि से, अचेतन मन में असंतोष और जिज्ञासा जागृत होने पर स्वसंवेदनशीलता से 'मति अनुसारा' यथार्थ का ग्रहण हो जाता है। ऐसी गूढ़ रामकथामय रामायण को केवल शब्दार्थ द्वारा नहीं समझा जा सकता।

भारतीय परम्परा पर रचित बालमीकि रामायण तथा अन्य अमर आध्यात्मिक ग्रन्थ परम तत्व के निरूपण तथा उसके दिग्दर्शनार्थ ही रचे

गये हैं। उनमें 'प्राकृत जन गुणगान' नहीं है। यह उनमें दिये अलौकि
कथानकों से स्पष्ट है।

रामायण के रचयिता 'बाल्मीकि' आदिकवि माने जाते हैं तथा उनके
रचित रामायण आदि काव्य भी है। उसके कथानकों में लौकिक इतिहा
खोजकर उसमें अनेक दोष देखे जाते तथा उन तथाकथित दोषों को अमा
करने हेतु उसके कुछ अंशों को क्षेपक प्रतिपादित करने का प्रयास भी होत
है। कई वर्ष पूर्व स्वर्गीय श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन जी ने ऐसे ही विचा
व्यक्त किये थे। वही बाल्मीकि–रामायण स्वसंवेदनशीलता से 'दूषणसहित
होने पर भी 'दोष रहित' है तथा स्वसुख प्रदान करने की क्षमत
रखती है।

बाल्मीकि जी की वन्दना में राजशेखर कवि ने तथा गोस्वामी
तुलसीदास जी ने निम्न समानार्थी उद्‌गार प्रकट किये हैं :—

| | |
|---|---|
| नमस्तस्यै कृतायेन, | बंदौं मुनि पद कंज, |
| रम्या रामायणी कथा। | रामायण जिन निर्मयऊ। |
| सदूषणमपि निर्दोषा, | सखर सुकोमल मंजु |
| सखरापि सुकोमला ॥ | दोष रहित दूषण सहित ॥ |

टीकाकारों ने अर्थ किया है कि रामायण में खर दूषण राक्षसों क
वर्णन कोमल तथा दोष रहित है, ऐसे रामायण निर्माण करने वाले मुनि की
वन्दना की जाती है। उपरोक्त अर्थ से रामायणकार वन्दनीय नहीं माने जा
सकते। अतः यह अर्थ स्वीकार योग्य और संतोषप्रद नहीं प्रतीत होता
इसका यथार्थ समझने के लिए सखर सुकोमल' तथा 'दोषरहित दूषण
शब्दों में जो विरोधाभास परिलक्षित होता है, उसका समन्वय कै
संभव है यह जानना होगा, जो संभव है स्वसंवेदनशीलता से ही, तटस्थ
संवेदनात्मक अर्थ से कदापि नहीं। रामायण को स्व-भाव में ही ग्रह
करना होगा।

इस संबंध में रघुवंश का श्लोक :—

"असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम्।
न चक्षमे शुभाचारः सदूषणमिवात्मनः ॥

विचारणीय है। पर—भाव में, अन्यों द्वारा प्रयुक्त दूषण—कलंक—असहनीय होता है पर स्व-भाव में 'आत्मनः दूषणम्'— स्व-दूषण जो आत्म निरीक्षण में जाना जाता है, असहनीय नहीं होता—दोष रहित होता है। ऐसे ही दोषरहित दूषण का कथन होने से तथा जिस 'खर' का—सत्य का—परम तत्त्व का-वर्णन बहुत ही कठिन है वही 'सत्य' रामायण में बहुत सहजता-कोमलता—और सुन्दरता के साथ वर्णित हुआ है इसलिए मुनि बाल्मीकि जी बन्दनीय माने गये हैं।

उपरोक्त बन्दना से सिद्ध होता है कि बाल्मीकि रामायण में दूषण संबंधी प्रसंग, जिसे क्षेपक मान रामायण से निकाल देने का सुझाव दिया जाता है, गोस्वामी जी के पूर्व शेखर कवि के काल में भी रामायण में था तथा उसके स्व-संवेदनात्मक दोषरहित अर्थ से वे अवगत थे। अतः उन अंशों के प्रक्षिप्त होने का सुझाव असंगत ही दिखता है। उक्त 'दोष रहित दूषण' के स्व संवेदनात्मक अर्थ से हम अनभिज्ञ हो गए तटस्थ संवेदनात्मक पश्चिमीशिक्षा के आरोपण के कारण।

आदि कवि का आदि श्लोक :—

मा निषाद प्रतिष्ठाम् त्वमागमः शाश्वती समाः।
यत् क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

पर थोड़ा विचार किया जाय। शब्दार्थ पर गंभीरता से विचारें। यदि यह संबोधन किसी मनुष्य रूपी ब्याधा को हो तो, मनुष्य के क्षणभंगुर शरीर के लिये 'शाश्वती समाः' का उपयोग अनुपयुक्त है। 'निषाद' से भाव है 'मन' का। स्वसंवेदन से 'स्व' में ही श्लोक के भाव को ग्रहण करने से यह भाव सरल हो जायेगा। मन 'आत्मा' का निकटतम होने से 'निषाद' है ही। हाल रचित गाहा सतसई, जो प्राकृत भाषा का स्वसंवेदनात्मक काव्य है, उसमें 'ब्याधा' मन के प्रतीक के रूप में माना हो गया है। 'मन' के लिए 'शाश्वती समाः' का उपयोग असंगत न होगा।

'क्रौंच मिथुन' से भाव है ब्रह्म—जगत् रूपी मिथुन। शब्द द्वारा ही उनका प्रकाट्य होता है, अतः वे क्रौंच मिथुन हैं। ब्रह्म या जगत-परमार्थ या व्यवहार—कोई भी त्याज्य नहीं है। दोनों अभेद रूप से ही ग्राह्म हैं।

एक का बध –त्याग; 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' का शाब्दिक अर्थं यद्यपि अद्वैत का प्रतिपादक माना जाता है पर वस्तुत: उसमें ब्रह्म और जगत रूप द्वैत को मान्यता है। विचार से यह स्पष्ट हो जायगा। इसीलिए कहना पड़ता है "हरिरेव जगत् जगदेव हरि:" पर इसमें भी हरि और जगत रूपी द्वैत की मान्यता है। अद्वैत तो अवर्णनीय—शब्दातीत—है, फिर भी 'कहे बिन रहा न कोई'; पर कहते ही जो भी कहा जाता है वह 'दूषण सहित हो जाता है। स्व द्वारा स्व संवेदन में वह दूषण विलीन हो जाता है।

इस आदि श्लोक में बतलाया गया है कि ब्रह्म वा जगत्—परमार्थ वा व्यवहार--कोई भी त्याज्य नहीं। दोनों अभेद हैं, मिथुन है। परमार्थ विहीन व्यवहार, व्यवहार नहीं न व्यवहार विहीन परमार्थ परमार्थ है। व्यवहार ऐसा हो कि परमार्थ और व्यवहार में अभेद हो। यही पूर्णता है। ब्रह्म और जगत् रूपी क्रौंच मिथुन में से एक का बध–त्याग--शांति प्रदान नहीं कर सकेगा। इसी श्लोक की व्याख्या की गई है रामायण की रामकथा में।

बाल्मीकि रामायण में रामकथा का गान बालकाण्ड के चौथे सर्ग में लव कुश द्वारा होता है। लव कुश के गान द्वारा ही राम जन्म, राम विवाह राम वनवास, सीताहरण, बालिमरण, लंका दहन, रावण हनन, राम राज्याभिषेक, सीता त्याग के बाद रामायणारम्भ की स्थिति में लव-कुश फिर उपस्थित हो जाते हैं। एक पूरे चक्र का वर्णन है। उसके बाद सीताजी का आगमन, उनका पृथ्वी प्रवेश, श्रीरामजी का पृथ्वी पर धनुष तानना तथा ब्रह्मा द्वारा राम को अपने को जानने की विनती का वर्णन है।

स्वसंवेदनशीलता से इस कथा को 'स्व' में ही ग्रहण करने से रामकथा के यथार्थ को—निश्चितार्थं को—सहजता—सरलता—से ग्रहण किया जा सकता है। 'राम कथा का स्वसंवेदनशीलता से ग्रहण योग्य कथन रामायण में 'मंजु' रूप हुआ ही है।

लव और कुश काल तथा देश के प्रतीक हैं। शब्दों के अर्थं से इसे समझने में विशेष कठिनाई नहीं होगी। देश और काल में ही संसार चक्र

चलता रहता है। यही लव कुश द्वारा रामायण का गान है जो सतत चल रहा है। यह गान, राम--सर्वत्र रमणमान् शाश्वत् सत्ता--'पुरूष प्रसिद्ध प्रकाशनिधि, प्रकट परावर नाथ', का ही तो गान है जो सतत चल रहा है। दिलीप, रघु, अज और दशरथ, अपने अंतःकरण चतुष्टय, अहंकार, चित्त बुद्धि और मन के प्रतीक हैं। कौशिल्या, कैकेई, और सुमित्रा, सत्, रज, तम--तीन गुण हैं। राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न अपनी चार अवस्थाओं, तुरीय, जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रतीक हैं। धनुष-भंग काल विभाजन तथा अस्तित्व को मान्यता स्वीकार किये जाने रूप सीता ब्याह के वर्णन से संसार की विद्यमानता को स्वीकारा गया है रजोगुणरुपी कैकेईवशात् चौदह वर्ष--दशइन्द्रियां तथा अन्तःकरण चतुष्टय--के रस भोग (वन=रस) हेतु वनवास होने का वर्णन हैं। (वर्ष काल का ही द्योतक नहीं है, देश के लिए भी उसका उपयोग होता है जैसे भारतवर्ष)। रसभोग --वनवास--में मोह (रावण) वशात् अस्तित्व--सीता--रूपी विद्या माया में अविद्या माया (मान्यता या कल्पना) का आरोप होता और मोह (रावण) द्वारा भोग हेतु वह स्वीकारी जाती है। यही सीता हरण है। अस्तित्व द्विधा प्रोक्ता, एक यथार्थं जिसे ईश्वर सृष्टि या विद्यामाया कहा जाता हैं, दूसरी मान्यता रूप जिसे जीव सृष्टि या अविद्यामाया कहा जाता हैं।

सूर्य पुत्र सुग्रीव ज्ञानी मन का प्रतीक है, इन्द्र पुत्र बालि शक्तिमान मन का। ज्ञान विहीन शक्ति का नाश होता ही है। सुग्रीव रूपी ज्ञानीमन तथा 'हनुमान' रूपी मान्यताविहीन मन की सहायता से ही मोह (रावण) का हनन होता है मोहनाश के बाद की अनुभूति में, आत्म निरीक्षण करते हुए 'आत्मनः दूषणम्' का अनुभव होता ही है। इस अनुभव में पूर्व की मान्यतारूपी अविद्या (सीता) का पाश्चाताप पूर्वक अवमानना की ही जाती है। यही लंका से वापस आने पर 'सीता' को राम द्वारा दुर्वाद कहे जाने का भाव है। यही 'दोष रहित दूषण' सहित रामायण के निर्माण का भाव है। उस कथन में अविद्या जो त्याज्य है ही उसे अग्रहणीय दर्शाया गया है। तुरीयावस्था (राम, में अविद्या को स्थान नहीं। अविद्या हेतु स्थान बतलाया गया, लक्ष्मण (जागृति) भरत (स्वप्न), शत्रुघ्न (सुषुप्ति),

सुग्रीव (सापेक्षज्ञान) तथा विभीषण (सापेक्ष अज्ञान) के पास। अविद्या का स्थान वहां है ही। मोह (रावण), अविद्या (मान्यता) को जो दिव्य और मनोरम दिखलाई पड़ती हैं, उसे प्राप्त करने हेतु अधीर हुए बिना कैसे रह सकता है? मोह का अस्तित्व कल्पित मान्यताओं रूपी अविद्या पर ही तो अवलंबित है, पर अविद्या अवस्तु होने के कारण प्राप्त हो ही नहीं सकती।

मोह नाश के साथ पर—भाव मिटता तथा 'स्व-भाव में अस्तित्व ('मैं हूं' का भाव) रूपी सीता के साथ 'स्वस्थ' हो जाना ही राम-राज्यारोहण है। 'मैं हूं' का 'हूँ' भाव, अपने अस्तित्व की अनुभूति ही, 'सीता' है। इसी स्थिति में 'मर्यादा पुरुषोत्तमत्व हैं। यही 'बूंदहिं समुँद समानं' की स्थिति है—'आत्मदर्शन' है, पर 'मर्यादित है, अन्तर्मुखता की अनुभूति है। यही राम के 'एक-नारीव्रती होने का भाव है।'

'मैं हूं' का 'हूँ' पना भी मिटे बिना पूर्णानुभूति नहीं—निःशंक स्थिति की प्राप्ति नहीं। अस्तित्व का भाव 'हूँ' (सीता) ही संसार की जननी हैं 'उद्भवस्थिति संहारकारिणी' है। मुक्ति हेतु 'हूं' पने का आवरण भी मिटना है। यही सीता-त्याग है। यह सम्भव है आवरण रूपी दोष दर्शक तथा आवरणरूपी मल प्रक्षापक से ही। चर और रजकरूपी दोष दर्शक तथा मल प्रक्षापक विवेक द्वारा ही यह सम्भव है। इसलिये ही चर वा रजक के रूपक द्वारा सीता त्याग का वर्णन है।

कारण अनादि और शाश्वत है। उससे ही देश, काल—कुश तथा लव—का जन्म है। आदि कारण अनादि होने से लुप्त ही है। यही सीता का पृथ्वी प्रवेश है। वह लुप्त ही है, यह दर्शाया गया है इस कथानक से की राम भी उसे पुनः न प्राप्त कर सके।

## ५.

एक प्रातः स्मरणीय श्लोक है :—

"अहिल्या तारा मन्दोदरी कुन्ती द्रौपदीश्च तथा।
पंच कन्याम् स्मरेन्नित्यम् सर्व पाप हर्तारिणीम् ॥

कुछ पाठ भेद भी मिलता है पर-भाव सबका एक ही है) ये पांचों
न्यायें (दशवर्षेत् भवेत् कन्या हैं साथ हो विवाहिता और पुत्रवती भी।
प्रातः स्मरणीया तथा सर्व पाप हर्तारिणी होते हुए भी वे पांचों एकाधिक
र्तारी भी हैं। जिन ग्रन्थों में इनके कथानक हैं उन ही ग्रन्थों में एक पति
र निष्ठा रखने वाली पतिव्रताओं का मान तथा पुंश्चलियों का तिरस्कार
कया गया है। ऊपर ही ऊपर देखने में कुछ समझ में ही नहीं आता।
असम्बद्ध, अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कथन, इन अमर ग्रन्थों में,
ोताओं के मन में असंतोष पैदा कर उन कथानकों के यथार्थ मर्म को
ानने हेतु जिज्ञासा पैदाकर मनन करने के लिए बाध्य करने के उद्देश्य से
किये गये हैं। उपर्युक्त असम्बद्धता पर थोड़ा विचार करें।

इन पांच कन्याओं में तीन, अहिल्या, तारा, मन्दोदरी, त्रेता युग के
थानक, रामायण में वर्णित है, तथा दो, कुन्ती और द्रौपदी, द्वापर युग के
थानक महाभारत में। रामायण तथा महाभारत में मर्यादा पुरुषोत्तम
वान् श्रीराम तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्री कृष्ण संबंधी गुणगान हैं।
मायण त्रिगुणात्मक सृष्टि के शाश्वत् इतिहास का वर्णन कर, आत्म
क्षात्कार की मर्यादित स्थिति में, अन्तर्मुखता में, स्थित करा-स्वस्थ कर,
राज्य' में स्थित करा देने की क्षमता रखता है। यह 'बूंदहि समुंद
ान' की स्थिति है, त्रिगुणात्मक बहिः सृष्टि के परे की। रामायण में
नी तीन बहिः त्रिगुणात्मक चेतनाओं—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त—अहिल्या,
रा, मन्दोदरी का बखान है।

महाभारत में अन्तर्मुखी चेतनाओं—कुन्ती तथा द्रौपदी—का गुणगान
कुन्ती एकाग्र चेतना है। बहिर्मुखता के कुण्ठित हो जाने पर,
तर्मुखी एकाग्रता में ही ज्ञान—सापेक्ष ज्ञान—प्राप्त होता है, पंच
ात्मक संसार का। इसीलिए कुन्ती सूर्यपुत्र कर्ण और पांच पांडवों की
ता है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। श्रवण से ही भेदात्मक सापेक्ष ज्ञान
त होता है: अतः कर्ण सूर्यपुत्र है। आकाश में रहने वाले धर्मराज के

पुत्र युधिष्ठिर आकाश के प्रतीक हैं। सिवाय आकाश के और कोई स्थि
रह ही नहीं सकता। चाहे जितने जोर से पवन चले, मेघ बरसे औ
दावानल जले आकाश अडिग ही रहता है। भीम पवन पुत्र कहे ही गये हैं
पवन सदृश वे किसी के आधीन नहीं रहते, बड़े भाई युधिष्ठिर के भी पू
आधीन नहीं। उनकी पवनवत् उच्छृंखलता पद-पद पर वर्णित है
अग्निसखा, इन्द्र पुत्र अर्जुन अग्नि के गुण, रूप, का प्रदर्शन करते ही हैं संसा
पुरुष तथा स्त्री रूप में बटा ही हुआ है। अर्जुन के भी दो रूप हैं—अर्जु
तथा बृहन्नला। नकुल सब रसों के ज्ञाता होने से जल के प्रतीक तथ
सहदेव सब ज्योतिष पिंडो के ज्ञाता होने से पृथ्वी के प्रतीक स्पष्ट ही हैं।

पंच भूतात्मक संसार का तटस्थ–संवेदनात्मक सापेक्ष ज्ञान प्राप्त हो जा
पर, एकाग्रता की परिणति चेतना के निरोध में होती है। यह निरुद्ध चेतन
ही द्रौपदी है। चित्तवृत्ति की निरोध स्थिति में उस चेतना का रक्षक-
पति -पंच भूतात्मक देह ही रहता हैं, अतः द्रौपदी पंचभर्तारी कही ग
है। निरुद्ध चेतना के पंच भर्तारी होने में भी कोई दोष है ?

ऐसी पंचचेतनारूप सर्वात्मिका संवित् माता और जाया होते हुए भ
अग्राह्य होने से सदा कुमारी है और निःसंदेह प्रातः स्मरणीय औ
पापहर्तारिणी है।

महाभारत में 'कुरु' वंश के युद्ध का वर्णन है। कर्म तथा अकर्म दोन
में ही कर्तृत्व का अहंकार—'करना' करने तथा 'न करना' करने का रहत
ही है। अतः 'करना' और 'न करना'—कर्म और अकर्म—दोनों ही का
है– कुरुवंश हैं। कर्म अंधा है, फल का ज्ञान न होने से, धृतराष्ट्र उसके
प्रतीक हैं। अकर्म–अकर्मण्यता—के प्रतीक पांडु हैं जो कर्म क्षेत्र से अलग हे
गये हैं। अकर्मण्यता का - अकर्म का कोई फल नहीं होता इसीलिए पाण्डु
कोई औरस पुत्र वर्णित नहीं है।

अन्तर्द्वन्द में—कर्म, अकर्म दोनों ही मिट जाते हैं और का
विकर्मवत् होते रहते हैं, इस निश्चय की अनुभूति कराई गई है महाभार
में। यही नैष्कर्म्य है। अकर्मण्यता रूप अकर्म नैष्कर्म्य नहीं है।

## ६

श्रीमद्भागवत स्वसंवेदन शीलता से | त्रिगुण जन्य संसार का दर्शन पर-भाव में, बहिर्मुखता में, तटस्थ संवेदनात्मक भेद-दर्शन, रूप होता है। यह तटस्थ संवेदनात्मक भेददर्शन, रामायण के स्वसंवेदन शीलता से ग्रहण होने पर, मिट जाता, अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाती, पर इस अन्तर्मुखता में कर्म अकर्म का द्वन्द बना रहता है। यह अन्तर्द्वन्द्व, महाभारत के स्वसंवेदन शीलता से ग्रहण होने पर मिट जाता है, निर्विकल्प स्थिति की प्राप्ति हो तो जाती है पर दर्शन अभी अन्तर्मुखी ही बना रहता है। श्रीमद्भागवत इस स्वसंवेदनशील निर्विकल्प द्वैत बिहीन अन्तर्मुखी दर्शन को स्वसंवेदनशील निर्विकल्प द्वैतबिहीन अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन में बदल देने की क्षमता रखता है। यह स्थिति ही पूर्णत्व की—आनंद की स्थिति है। यही जीवन की सफलता है।

श्रीमद्भागवत, महाभारत में वर्णित अन्तर्मुखी द्वन्द्व के परे—द्वन्दातीत स्थिति का 'अहमेवेदं सर्वं' की अनुभूति का वर्णन कर उसमें वर्णित 'एकान्तिकीम् क्रीणाम' का आनंद 'एकान्तिकीम्'—'अहमेव'—वाली स्थिति में स्थित होकर ही अनुभव किया जा सकता है।

इस अनुभूति का अनुभव ग्रन्थों के पठन से नहीं हो सकता। मधु की मधुरता का अनुभव मधु संबंधी लेख या पुस्तक पढ़ने से नहीं प्राप्त हो सकता। बिना फल चखे उसके संबंध में कुछ भी कहना, प्रतिबिंबित फलास्वादन के बखान सदृश्य ही होगा। स्वाद तो अधिकारी पुरुष—गुरु—की कृपा से ही फल चखकर प्राप्त होगा। हां! तो श्रीमद्भागवत 'अहमेवेदं सर्वं' का अनुभव करा अखण्ड आनंद की प्राप्ति कराता है। आवश्यकता है उसे स्वसंवेदन से ग्रहण करने की।

# कृतज्ञता ज्ञापन

पूज्यवर श्रीमान् पंडित लक्ष्मीकांत जी शर्मा, व्याख्याता, दुर्गा कला महाविद्यालय, रायपुर एवं मेरे अभिन्न मित्र श्री श्रीधर यादव भागड़ीकर, अधिवक्ता, रायपुर के पथ प्रदर्शन तथा श्री रामचन्द्र भाई नचरानी, प्रेम स्टेशनरी, बंजारी चौक, रायपुर वालों के सहयोग से ही इस कृति का प्रस्तुतीकरण और प्रकाशन संभव हो सका अतः उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। यह कृतज्ञता ज्ञापन तो औपचारिकता मात्र है।

बृजराजसिंह
टीकाकार

# श्री पातञ्जल योग दर्शन
## की टीका
(स्व संवेदनशीलता के आधार पर)

# निवेदन

इस टीका द्वारा इतना ही सुझाने का प्रयास है कि 'योग' स्वरूप स्थिति अथवा कैवल्य की प्राप्ति अन्तर्मुखता द्वारा ही संभव है न कि बहिर्मुखी प्रयासों से। 'हठयोग' की बहिर्मुखी तान्त्रिक क्रियाओं का– आसन तथा प्राणायाम का—अपना मूल्य है। शारीरिक प्राणिक तथा मानसिक शक्तियों की प्राप्ति उनसे अवश्य होती है। उस हेतु उनका अभ्यास उपयोगी है। पर यह जान लेना आवश्यक है कि उन बहिर्मुखी साधनों से 'योग' की प्राप्ति नहीं हो सकती।

टीकाकार

# समाधिपाद

१ **अथ योगानुशासनम् ।**

योग शास्त्र का आरंभ होता है ।

२ **योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।**

चित्त वृत्ति का निरोध योग है ।

**विशेष** :—योग का अर्थ है जोड़ (+) जबकि निरोध का परिणाम है वृत्ति को घटाना (—)। ऋण धन कैसे हो सकता है—निरोध योग कैसे होगा ? यह विचारणीय है । (सूत्र ३ का वि० त्रि० देखें) ।

२. चित्त क्या है ? अथाह, अखंड अनन्त चित् सागर की स्वाभाविक त्रिगुणात्मक गतिमत्ता ही 'चिति' (प्रकृति) है जो भासमान है (समाधौ भासमाना या सा चितिः ब्रह्मरूपिणी) जबकि चित् अभासमान पर अनुभवगम्य—अगोचर पर अपरोक्ष—है । चित् सत् है, आनंद है अतः सच्चिदानंद है । चित् की गतिमत्ता—चिति—के अखंड अंश में सीमित अहमान्यता रूपी अर्थ - ज्ञान—का उदय ही चित्त की निर्मिति है । (देखें सूत्र ४—४) ।

३. वृत्ति क्या है ? चित् सापेक्ष ज्ञान अज्ञान निरपेक्ष, प्रज्ञान स्वरूप प्रज्ञानं ब्रह्म है । चित्त ज्ञान स्वरूप है । वृति है चित्त के अस्तित्व का बहिर्मुखी आधार । चित्त की बहिर्मुखी गतिमत्ता ही उसकी वृत्ति कहलाती है । वृति अनुरूप अहंयुक्त कर्म होते हैं, कर्म से संस्कार बनते, तथा संस्कार से वृत्ति का नवोदय होता; इस तरह वृत्ति—कर्म—संस्कार रूपी, ज्ञान—क्रिया—इच्छा का संसार बन जाता है । त्रिगुणात्मिका चिति का अखंड अंश होने से चित्त वृत्ति भी त्रिगुणात्मक होती है ।

४. निरोध कहते हैं बहिर्मुखी गतिमत्ता के प्रवाह के बंद हो जाने को । चित्तवृत्ति निरोध से भाव है चित्त के स्वाभाविक बहिर्मुखी प्रवाह के मिट जाने—घट जाने—का ।

३ **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

तब (चित्तवृत्ति के निरोध होने पर) द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति होती है

विशेष :—१. द्रष्टा कहते हैं अहम्मन्यतायुक्त चित्त को जिसने अपने अस्ति का, ज्ञातृत्व का, द्रष्टृत्व का, भोक्तृत्व का तथा कर्तृत्व का साक्षी मान लिया है।

२. स्वरूप कहते हैं चित्त के मूलरूप चित् को जो उसका वास्तविक स्वरू है। चित्त की गतिमत्ता—वृत्ति—के निरुद्ध होने पर, चित्त का चिति में लय त चिति का चित् में विलय स्वरूप—स्थिति की प्राप्ति या कैवल्य कहलाता है। उ एकाकारिता में योग तथा निरोध भी—धन और ऋण भी—अभेद रूप जाते हैं।

४ वृत्तिसारूप्यमितरत्र।

निरोध से भिन्न—व्युत्थान—दशा में, द्रष्टा की वृत्तिसारूप्यता—वृत्ति तदाकारिता रहती है।

५ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।

वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं तथा पांचों प्रकार की वृत्तियां क्लेशका तथा अक्लेशकारक (क्लेशों को दूर करने वाली) दोनों प्रकार की होती हैं।

६ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति रूपी पांच प्रकार की वृत्ति होती हैं।

विशेष :—वृत्तियां तो असंख्य वा अनन्त हैं, पर वे उपरोक्त पांच श्रेणि में विभाजित की गई हैं।

७ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।

प्रमाण वृत्ति तीन प्रकार की, प्रत्याक्षानुसारी, अनुमानानुसारी आगमानुसारी होती है।

विशेष :—१. इन्द्रियों का विषयों से सीधा सम्पर्क होने पर जो वृत्ति उ होती है वह प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती है।

२. जो वृत्ति अनुमान द्वारा उदित हो उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं पहाड़ में धुआं उठते देख आग लगने का अनुमान हो।

३. जो ज्ञान वृत्ति आगम ग्रंथों अथवा ज्ञानी और तत्त्वज्ञ पुरुषों के पर आधारित हो उसे आगम प्रमाण कहते हैं।

८ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।

विपर्यय मिथ्या ज्ञान है, जो जैसा दिखता है वैसा हो न ।

विशेष :—मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं है । असत्य वह है जो न दिखे न हो । मिथ्या वह है जो दिखे तो अवश्य पर हो न, उदाहरण स्वरूप मृगजल ।

९ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।

वस्तु की सत्ता तो न हो पर शब्द से जो ज्ञान उदय हो उसके अनुसार वस्तु सा व्यवहार होता रहे; इस ज्ञान वृत्ति को विकल्प कहते हैं ।

विशेष :—वस्तुतः सब शब्द-ज्ञान विकल्प है । विकल्प भाव में ही संसार का सब व्यवहार हो रहा है । 'सीप का बटन' विकल्पवृत्ति का उदाहरण है । 'बटन' की वास्तविक सत्ता तो है नहीं पर 'बटन' शब्द के अर्थ के अनुसार व्यवहार होता रहता है ।

२. प्रत्यक्ष ज्ञान अबाधित रहता है । मिथ्या-ज्ञान रूपी विपर्यय बोध होने पर बाधित हो जाता है । विकल्प ज्ञान में, विकल्प के वस्तुशून्य होते हुए भी, व्यवहार होता रहता है ।

१० अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।

अभाव प्रतीति के आश्रय वाली वृत्ति निद्रा है ।

विशेष :—वृत्ति ज्ञान स्वरूप होती है जबकि निद्रा अज्ञान स्वरूप, तो फिर निद्रा वृत्ति कैसे हो सकती है ?

निद्रा से जागने पर स्मृति पैदा होती है कि 'मैं सुख से सोया', 'नींद में मैं बहुत भटका' या 'मैं अचेत सा सोया' । सिद्ध है कि निद्रा में अनुभवजन्य संस्कार बनते हैं क्योंकि बिना संस्कार के स्मृति नहीं पैदा हो सकती, न संस्कार ही बिना वृत्ति के उत्पन्न हो सकते हैं । अतः स्पष्ट है कि निद्रा भी वृत्ति है ।

निद्रा के तमसाच्छन्न होते हुए भी, सत, रज और तमस् गुणों के कारण तीन प्रकार की निद्रा ऊपर वर्णित है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि त्रिगुण सदैव त्रिवेणी सदृश्य मिले हुए ही रहते हैं । प्रगाढ़ तमसावस्था में भी सत्, रज, साथ में बने ही रहते हैं ।

११ अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।

अनुभूत विषय का न खोया जाना स्मृति है ।

विशेषः— स्वप्नावस्था में, संस्कार में संचित स्मृति जन्य जो स्वप्न दिखते हैं वे वृत्ति नहीं है, उनसे कोई कर्म न पैदा होने से ।

१२ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

अभ्यास और वैराग्य द्वारा उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है ।

विशेषः— सूत्र २ में ऊपर कहा गया है कि वृत्तियों का निरोध ही योग है। अब उपाय बतलाया जा रहा है, अभ्यास और वैराग्य दोनों से वृत्तियों के निरोध का। दोनों उपायों का एक साथ अवलम्बन करने को कहा जा रहा है— एक के बाद एक नहीं। इसे अच्छी तरह समझ लेना है। कठिनाई यह है कि किसी साधन विशेष का अभ्यास करते समय उससे राग रहेगा, वैराग्य हो न सकेगा, और वैराग्य करने पर अभ्यास न होगा। फिर क्या किया जाय, विचारणीय है। (देखें सूत्र १३)

१३ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।

उस वृत्तिविहीन स्थिति—निरोध अथवा योग स्थिति —में स्थित रहने हेतु यत्न ही अभ्यास है ।

विशेषः— 'तत्र' द्वारा वृत्ति विहीन निरोध स्थिति * —योगस्थिति—का ही संकेत है। श्री मद्भगवद्गीता, अध्याय—६ श्लोक - ३३ में योग की 'स्थितिम्

---

*इस निरोध स्थिति को इस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है। एक कमरे में बैठकर उसके चार कोनों में से पहले और तीसरे कोने को तीन चार बार देखें। अनुभव होगा कि उन दो कोनों को देखने के मध्य में क्या देखा, नहीं बतलाया जा सकता न कहा जा सकता कि 'कुछ नहीं देखा'। वहीं निरोध क्षण है जिसे मध्य स्थिति या योग स्थिति भी कहा जाता है। यह निरोध स्थिति सतत की स्थिति है जिस पर वृत्तियों का उदय या शांत होना होता रहता है। इसका वर्णन संत ज्ञानेश्वर ने स्पष्ट रूप से किया है जो आगे सूत्र ३—६ की टिप्पणी में उद्धृत है। यही निर्विकल्प समाधि की स्थिति है। इसे ही ग्रहण कर इस पर ही टिकना है।

स्थिराम्' के अर्जुन द्वारा दुष्प्राप्य कहे जाने पर भगवान ने; श्लोक ३६ में इस स्थिति की प्राप्ति का उपाय 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' करके बतलाया है। वहां भी अभ्यास तथा वैराग्य का एक साथ ही अवलम्बन लेने का सुझाव है।

२. यत्न से अभिप्राय है श्रद्धा और वीर्य से जो अपने से अभिन्न आंतरिक साधन है और जो अभ्यास और वैराग्य को एक साथ ही प्रेरित करने में सक्षम हैं। अन्तर्मुखता में अभ्यास और वैराग्य साथ ही साथ चलते हैं, बहिर्मुखता में नहीं।

१४ स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।

सत्कारपूर्वक, दीर्घकाल तक, निरन्तर इस अभ्यास का सेवन करते रहने से (स्थिति की) दृढ़ भूमि (स्थितिम् स्थिराम्) प्राप्त होती है।

विशेष:— 'सत्कारसेवितो' से भाव है श्रद्धापूर्वक अभ्यास से। 'नैरन्तर्य' से भाव है निरन्तर, प्रतिक्षण, लगातार 'सर्वेषु कालेषु।' दीर्घकाल तक इसलिये अभ्यास करे ताकि व्युत्थान दशा से अभ्यास में बाधा न हो।

कविवर बिहारी की उक्तियां :—

"छिनकु छाकु उछकै न फिर"
"छुटन न पैयतु छिनकु बसि"

नैरन्तर्य, दीर्घकाल तथा दृढ़ भूमि को पूरी तरह से अभिव्यक्त करते हैं।

१५ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।

(निरोध स्थिति में अभ्यास में लगे चित्त में) सुने और देखे हुए विषयों से जो अरुचि सी पैदा हो जाती है उसे वशीकार नामक वैराग्य कहते हैं।

विशेष:— वशीकार नाम इसलिए दिया गया है कारण कि उस अभ्यास काल के चित्त में अहमन्यता के साथ यह भावना भी रहती है कि विषय मेरे वश में हैं।

१६ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(अभ्यास में लगे हुए) पुरुष का ज्ञान होने पर जब गुणों से वितृष्णा हो जाय, अर्थात् जब त्रिगुणातीत हो जाय, तब वही वशीकार वैराग्य पर—वैराग्य हो जाता है।

विशेषः— अभ्यास तथा वैराग्य साथ ही साथ चलते हैं। अभ्यास की दृढ़भूमि ही पर—वैराग्य की भी प्राप्ति है। अभ्यास की दृढ़भूमि, पर-वैराग्य तथा कैवल्य एक ही स्थिति के द्योतक हैं।

१७ वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् संप्रज्ञातः।

(अभ्यास तथा वैराग्य से जो वृत्ति निरोध की स्थिति प्राप्त होती है वह वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनंदानुगत तथा अस्मितानुगत होने से, सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

विशेषः— सम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तियों के बीज संस्कार में विद्यमान रहते हैं। बहिर्मुखता मिट जाती है पर अन्तर्मुखी मन में वितर्क तथा बुद्धि में विचार उठते ही रहते हैं। चित्त में आनन्द और अहंकार में अस्मिता की अनुभूति होती रहती है। कहा जा सकता है कि वृत्तियों के बीच जो अन्तस्थ रहते हैं उनका अंकुरण होता रहता है।

वितर्कानुगत समाधि में, मन में वितर्क उठते रहते हैं, विचार भी होता रहता है तथा आनन्द और अस्मिता की भी अनुभूति होती रहती है।

विचारानुगत समाधि में बुद्धि विचार करती रहती तथा आनन्द और अस्मिता का भी भान बना रहता है।

आनन्दानुगत समाधि में समाधि जन्य आनन्द की अनुभूति चित्त में होती रहती है, साथ ही अपने अस्तित्व—अस्मिता का भी भान बना रहता है।

अस्मितानुगत समाधि में केवल 'अहंकार की—अपने होने की—ही भावना रहती है। यह विदेह दशा की प्राप्ति है, देहाध्यास मिट जाने से।

१८ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

विराम (निरोध) प्रतीति की स्थिति, अभ्यास आरंभ करने के पूर्व वाले तथा संस्कार विहीनता की स्थिति (सम्प्रज्ञात भिन्न) अन्य (असंप्रज्ञात समाधि) है।

विशेषः— बाह्य इन्द्रियों की चित्त वृत्तियों का बहिर्मुख प्रवाह विषयों की ओर होता है। वृत्तियों के, अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा, निरोध होने पर जो सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है, उसमें वृत्तियों और वृत्ति—अनुरूप कर्मों के जो संस्कार अन्तःकरण—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—में, वितर्कानुगत, विचारानुगत

ानंदानुगत तथा अस्मितानुगत प्रवाहित होते रहते हैं, उस प्रवाह के भी संस्कार ोष हो, विराम स्थिति के प्राप्त होने पर—विराम प्रतीति होने पर—असम्प्रज्ञात मधि प्राप्त होती है। सम्प्रज्ञात समाधि में वृत्तियों के बीज, संस्कार, अन्तःकरण ं विद्यमान रहते हैं। अभ्यास की दृढ़ भूमि तथा पर—वैराग्यवशात् संस्कार शेष हो ाने पर—संस्कार रूपी बीज के भी शान्त—विराम—हो जाने पर, निर्बीज समाधि —असम्प्रज्ञात समाधि—की प्राप्ति होती है।(देखें सूत्र ५१)

विद्वानों ने 'संस्कार शेष' का अर्थ किया है :—वह समाधि जिसमें संस्कार मात्र शेष रहते हैं। अस्मितानुगत समाधि में अस्मिता का संस्कार रहता है। 'अस्मिता' के भी संस्कार के शेष हो जाने पर—मिट जाने पर—चित्त के चिति में लय हो जाने पर ही असंप्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। असम्प्रज्ञात समाधि में अस्मिता का भी भान नहीं रहता। चिति की त्रिगुणात्मिका शक्ति के कारण जो कर्म होते रहते हैं उसका भान बना रहता है पर कर्तृत्व भावना मिट जाती है। निमित्तरूप अपने द्वारा कर्म होने की भावना बनी रहती है। दृढ़ अनुभूति रहती है कि "मेरे द्वारा होता है अवश्य, पर मैं करता नहीं कुछ भी कभी भी"। यह प्रकृतिलय की स्थिति है। यही अकर्तृत्व पद की प्राप्ति है।

अभ्यास—पूर्व की निरोध—स्थिति और संस्कार शेष निरोध—स्थिति में कोई अन्तर नही होता—स्थिति तो एक ही है, पर संस्कार शेष स्थिति से, अभ्यास की दृढ़ भूमि तथा पर वैराग्य से दृढ़ता को प्राप्त होने के कारण, व्युत्थान नहीं होता जबकि अभ्यास पूर्व निरोध—स्थिति से व्युत्थान स्वाभाविक है।

असंप्रज्ञात समाधि अचेतनावस्था नहीं है। वह पूर्ण चेतना की दशा है जिसे निम्न रूप से व्यक्त किया गया है :—

"निद्रा तजि सोवै योगी"
"योजागर्ति सुषुप्तस्थो"

"या निशा सर्वं भूतानाम् तस्यामि जागर्ति संयमी"।

"जागृति निद्रा विनिर्मुक्ता सा स्वरूप स्थितिः परा"।

१६ **भवप्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्।**

विदेहों तथा प्रकृतिलयों की यह (असंप्रज्ञात समाधि की) प्रतीति जन्म से ही—सहज—होती है।

**विशेष :**— आनन्दानुगत समाधि तक तो देह का भान रहता है। अस्मितानुगत समाधि में देहाध्यास मिट जाता है। वह विदेह दशा है। असम्प्रज्ञात समाधि में, चित्त के चिति में लय होने के कारण वह प्रकृति लय कहलाती हैं। विदेहों और प्रकृतिलयों को—स्वरूप स्थिति—चिति का चित् में स्थिति की स्थिति—की प्राप्ति नहीं हुई रहती; अतः उनका पुनर्जन्म होता है और 'पूर्वाभ्यासेन' (गीता ६—४४ के अनुसार पूर्व स्मृति वशात्) समाधि की प्राप्ति जन्म काल से ही रहती है। जड़ भरत और नानक इसके उदाहरण हैं।

२० **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।**

(उस असम्प्रज्ञात समाधि की उपलब्धि—विदेहों और प्रकृतिलयों के अतिरिक्त) अन्य योगियों को श्रद्धा, वीर्य—उत्साह, स्मृति—आत्म स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञापूर्वक उपलब्धि होती है।

**विशेष :**—'श्रद्धा 'द्विधा प्रोक्ता'। अन्ध परम्परानुगत पूर्वीश्रद्धा—सतीश्रद्धा शंकालु तथा तर्कशील होती है। उसके मिटने पर ही, जिज्ञासु, विश्वासोत्पादक चित्तप्रसादयुक्त, पार्वती रूपा श्रद्धा पैदा होती है।

श्रद्धापूर्वक जिज्ञासा से आत्मज्ञानप्राप्ति हेतु उत्साह होता है।

उत्साह पूर्वक आत्म चिंतन करने से आत्म-स्मृति पैदा होती है।

आत्म-स्मृति से बहिर्मुखी वृत्तियों का निरोध हो समाधि प्राप्त होती है।

समाधि की परिणति चित्ज्ञान (विवेकज्ञान) रूपी प्रज्ञा द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्य प्राप्ति में होती है।

२१ **तीव्रसंवेगानामासन्नः ।**

तीव्र संवेग वालों को तुरन्त ही समाधि लाभ होता है।

**विशेष :**—तीव्र संवेग से भाव है तीव्र जिज्ञासा के साथ शीघ्रता से अभ्यास और वैराग्य में लग जाने की योग्यता से।

२२ **मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोपि विशेषः ।**

(वह तीव्रसंवेग) मृदु, मध्य और अधिमात्र ऐसे तीन प्रकार का होता है। अधिमात्र-तीव्र संवेग वालों को समाधि लाभ में, मृदु तीव्र संवेग वालों और मध्य तीव्र संवेग वालों से विशेषता रहती है, अर्थात् अधिमात्र तीव्र संवेग वालों को अतिशीघ्र समाधि लाभ होता है।

२३ ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

अथवा ईश्वर प्रणिधान से (और आसन्न) असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

विशेष :—प्रणिधान का भाव है भक्ति, समर्पण, शरणागति, लपटानि। भक्ति का भाव है अविभक्तपने की अनुभूति। 'भक्त वही है जो विभक्त न हो' जैसे 'अलंकार सोने का भक्त'।

२४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

क्लेष, कर्म, फल, वासना से अछूता पुरुष-विशेष ईश्वर है।

विशेष :—अखण्ड, अथाह, अनादि, अनंत, ज्ञान स्वरूप, प्रज्ञान ब्रह्म रूप चित् ही योगदर्शन का ईश्वर है।

२५ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।

उसमें अतिशय रहित--सीमाविहीन—सर्वज्ञ बीज रहता है।

विशेष :—चित् रूपी ईश्वर, चिति तथा चित्तों का आधार होने से, उसमें सर्वज्ञता बीज रूप से रहती ही है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से।

२६ पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

काल से परिमित न होने से—अनादि, अनंत होने से—पूर्व पुरुषों—समष्टिगत पुरुष—हिरण्यगर्भ—का भी गुरु—पूर्वज—है। उससे बड़ा या पुराना कोई नहीं है।

विशेष।—सूत्र २ का वि० वि० देखें।

२७ तस्य वाचकः प्रणवः ।

प्रणव उसका वाचक (नाम, बतलाने वाला) है।

विशेष :—प्राण से जो उत्पन्न हो उसे प्रणव कहते हैं (छान्दोग्योपनिषद १-१-६ शांकरभाष्य)। सब अक्षर और शब्द प्राण से ही उत्पन्न होते हैं। ॐ का 'अ', वर्णमाला का आदि अक्षर है और 'म', वर्णमाला का अंत्याक्षर है। जितने और भी शब्द बनते हैं वे 'अ' 'म' अक्षरों और उनके बीच के अक्षरों में से ही बनते हैं। अतः ॐ सब अक्षरों और शब्दों का प्रतीक है। वेदों में जितने भी शब्द हैं वे सब 'अ' 'म' और उनके बीच के अक्षरों में से ही बने हैं इसलिए ॐ वेदों का बीज भी

माना गया है । 'अ' 'म' के सम्पुट के भीतर ही 'ससार' है 'ईश्वर' है । सब ॐ है—सब कुछ ईश्वर है । ॐ ही ईश्वर है—ईश्वर ही ॐ है । यह भावना ही का जप है । यही ईश्वर प्रणिधान है ।

२८ तज्जपस्तदर्थभावनम् ।

उसके (प्रणव के) अर्थ की भावना (चिन्तन) ही उसका जप है ।

विशेष :—ॐ का जप ॐ ॐ कहना मात्र नहीं है । मौखिक जप इसलिए ही किया जाता है कि ऐसा जपते-जपते कभी तो ॐ के अर्थ को जानने जिज्ञासा जागृत होगी ।

ॐ के अर्थ का चिंतन ही ॐ का जप है । ॐ के अर्थ का भाव सूत्र वि. वि. में दिया गया है । औपनिषदिक मन्त्र है "ॐकारमेवेदं सर्व" । सब—सारा संसार ॐ कैसे है ? संसार में 'मैं', 'तू', 'वह'; 'यह', 'वह', रूपी जो व्यवहार अनेकत्व में हो रहा है, वह शब्दों का ही तो व्यवहार है शब्द विकल्प हैं । संसार में विकल्प में ही व्यवहार होता है । यह हृदयगम हो ही 'यह सब संसार ॐकार मात्र है' यह समझ में आ सकता है । इस प्रकार अनुभूतिपूर्ण चिंतन ही ॐ का जप है । इसीलिए कहा गया है :—"स्त सर्वोगिरा:" अथवा, "कहूं सो नाम सुनूं सो सुमिरन" । सब ॐ का ही जप

अध्यात्म रामायण का निम्न श्लोक, प्रणव जप के अर्थ के भा दर्शाता है :—

"पूर्ण समाधेरखिलं विचिन्तयेदोंकारमात्रं सचराचर जगत
तदेव वाच्यं प्रणवोहिवाचको विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधत: ।।"

२९ तत:प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

तब (प्रणव के जप द्वारा ईश्वर प्रणिधान होने पर) प्रत्यक्चेतन का दर्शन—प्राप्त होता तथा अन्तरायों का अभाव हो जाता है ।

विशेष : प्रत्यक्चेतन से भाव है चित् की - गतिमत्ता चिति से जो और सब में भासमान है ।

अन्तराय वे हैं जो प्रत्यक्चेतन के अधिगम् होने में आड़े आते हैं। वर्णन अगले सूत्र में किया गया है ।

प्रत्यक्चेतन का अधिगम (ज्ञान व दर्शन) तथा अन्तरायों का अभाव होता है; प्रकाश होते ही जैसे अन्धकार का लोप होता है ।

३० व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-
वस्थितत्वनि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

व्याधि, मन की चंचलता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व चित्त के विक्षेप हैं जो (समाधि की उपलब्धि में) आड़े आते हैं—बाधक हैं।

विशेष :—मैं, तू, वह यह, वह, सब रूपी विचार मात्र अनात्मचिंतन है। इस अनात्मचिंतन के कारण ही अन्तरायों को अवकाश मिलता है। वस्तुतः अखिल चराचर जगत् 'तदेव' — वाच्य — ईश्वर — ही है, इस भाव में अडिग न रहने के कारण ही चित्त में उपरोक्त अन्तराय विक्षेपरूप उत्पन्न होते हैं।

व्याधि भी चित्त का ही विक्षेप है कारण कि रोग की प्रतीति ही व्याधि है। स्त्यान मन के फैलाव—चंचलता—को कहते हैं।

३१ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

उपरोक्त विक्षेपों के साथ उत्पन्न होने वाले (अन्य विघ्न) दुःख, क्षोभ, कम्प तथा हंफनी हैं।

विशेष :— विक्षेप और उनके सहायक, विक्षिप्त चित्त को ही बाधक हैं। एकाग्र और निरुद्ध चित्त वालों को उनसे कोई बाधा नहीं होती।

३२ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

उन्हें दूर करने के लिए एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

विशेष :—एकतत्त्व के अभ्यास से भाव है कि इस निश्चय पर टिके रहना कि एक तत्त्व का ही—सत्ता मात्र का ही—अस्तित्व है : सब कुछ ॐ है— ॐ ही सब कुछ है : विक्षेप भी ॐ है तथा विक्षेप सहभुव, दुःखदौर्मनस्यादि भी ॐ है। चित्त जब-जब उचटे तब तब वहीं लाकर टिकावे कि वह उचाट भी वही तत्व ॐ है।

इसी एक तत्वाभ्यास को इस प्रकार भी बतलाते हैं :—

मन को इस भाव में टिकावे कि सब कुछ 'मैं' है। मन जब विक्षिप्त हो तो उसे खींचकर उसी 'मैं' में टिकावे कि वह विक्षेप भी 'मैं' है। "मैं" ही एक तत्व है जिसका अस्तित्व है। इस एक तत्वाभ्यास का उदाहरण बिहारी सतसई से :—

मैं लखि नारी ज्ञान करि राख्यौ निर्धार यहै ।
वहै रोग, निदान वहै, वैद औषधि वहै ।।

नारी=नाड़ी, स्त्री (साधक, जगत् 'स्त्री रूपमिदंजगत्' के आधार पर)

३३ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

सुख, दुख, पुण्य, पाप विषयों में, मित्रता, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा भावना चित्त प्रसाद कारक है ।

विशेष :—सबके सुख में—शत्रु के भी सुख में—मित्रता की भावना र चाहिए ।

सब के दुःख में—शत्रु के भी दुःख में—करुणा की भावना करनी चाहि

सबके पुण्य कर्म में अधर्मी द्वारा किये गये पुण्य कर्म में विशेषकर मु होना चाहिए । तथा सब के पाप कर्मों में उपेक्षा की दृष्टि रखे ।

इससे चित्त से राग द्वेष दूर हो, चित्त निर्मल हो एकाग्र होता है, जि स्थिति की—समाधि की—उपलब्धि होती है ।

३४ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।

प्राणों के प्रच्छर्दन—रेचक और प्राणों की विधारणा—कुम्भक—से (चित्त प्रसाद) होता है ।

विशेष :—रेचक और कुम्भक के बाद पूरक बरबस करना पड़ता है । ऐ पूरक के पूर्व की कुम्भक स्थिति, वृत्ति विहीन समाधि स्थिति ही होती है ।

३५. विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।

अथवा विषय हेतु उत्कृष्ट रूप से उत्पन्न हुई वृत्ति भी (मन की स्थिति बांधने वाली) चित्त प्रसाद कारक होती है ।

विशेष :—प्रवृत्ति=प्रकर्षवृत्ति=उत्कट वृत्ति ।

३६ विशोका वा ज्योतिष्मती ।

अथवा चित्त की शोक विहीन वा प्रकाशयुत—ज्ञानयुक्त—वृत्तियां भी (म स्थिति को बांधने वाली होती हैं) ।

३७ **वीतरागविषयं वा चित्तम् ।**

अथवा चित्त जो विषयों के राग से रहित हो गया है (वह भी मन की स्थिति को बांधने वाला होता है) ।

३८ **स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।**

स्वप्न तथा निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन भी (मन: स्थिति को बांधने वाला होता है)

**विशेष** :— निद्रा और स्वप्न का ज्ञान है बहिर्मुखता शून्य होना । बहिर्मुखता शून्य होना ही निद्रा तथा स्वप्न के ज्ञान का अवलम्बन है । "यो जागर्ति सुषुप्तस्थों" द्वारा इस दशा का ही दिग्दर्शन कराया गया है ।

३९ **यथाभिमतध्यानाद्वा ।**

अथवा यथारुचि ध्यान द्वारा भी (मन:स्थिति बंध जाती है)

**विशेष** :— ध्यान संयमरूपी अन्तरङ्ग साधन है जिसमें धारणा की त्रिपुटी मिटकर ध्यान विषय की एकतान प्रतीति बनी रहती है । (देखें सूत्र ३—२)

४० **परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।**

छोटे से छोटे और बड़े से बड़े (पदार्थों) पर्यन्त ध्यान करना वश में रहता है ।

४१ **क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।**

उत्तम जाति का (निर्मल) मणि जहां रखा जाय उसी रंग का हो जाता है । (उसीप्रकार) वृत्तियों से क्षीण निर्मल चित्त त्रिपुटी के अंग से तदाकारिता प्राप्त कर लेता है । यही समापत्ति—समाधि—है ।

**विशेष** :— भाव है कि निर्मल चित्त जिसका ध्यान करेगा उससे तदाकार हो जायगा । यह तदाकारता ही समापत्ति—समाधि है ।

४२ **तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।**

शब्द अर्थ ज्ञान रूपी विकल्पों द्वारा सीमित समाधि सवितर्का समाधि कहलाती है ।

**विशेष** :— सूत्र १७ का वि. वि. देखें ।

४३ स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।

स्मृति के शुद्ध होने पर स्वरूप शून्य सी अर्थ मात्र की प्रतीति से भी समापत्ति निर्वितर्का कहलाती है ।

विशेष :— शब्द अर्थ ज्ञान रूपी स्मृति के शुद्ध होने का भाव है, और ज्ञान विहीन केवल अर्थ का भान न बना रहना । सवितर्का समाधि से शब्द ज्ञान मिटकर अर्थ मात्र का भी भास न रह जाना, निर्वितर्का समाधि है । शून्य से भाव है स्वरूप का अज्ञान ।

४४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।

इसके द्वारा ही सविचारा, निर्विचारा तथा अन्य सूक्ष्म विषय (आनंदानुगत तथा अस्मितानुगत) समाधियों का वर्णन हो गया ।

विशेष :— सूत्र १७ का वि. वि देखें । विचार विहीन समा निर्विचारा समाधि है । अन्य सूक्ष्म विषयों वाली समाधियों से भाव है आनन्द तथा अस्मितानुगत समाधियों से ।

४५ सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।

सूक्ष्म विषयता अलिङ्गपर्यन्त रहती है ।

विशेष :— अलिङ्ग=प्रकृति=चिति । सूत्र २ का वि. वि. देखें। तथा विचार स्थूल विषय हैं, आनन्द तथा अस्मिता सूक्ष्म विषय हैं। पर्यन्त सूक्ष्म विषयानुभूति है ।

४६ ता एव सबीजः समाधिः ।

वे सबीज समाधि हैं ।

विशेष :— 'वे' द्योतक हैं सूक्ष्म विषय वाली — आनन्दानुगत अस्मितानुगत समाधियों का, बीज का अर्थ है संस्कार, आश्रय, आलम्बन ।

४७ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।

निर्विचार की परिपक्वता में अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है ।

विशेष :— सूत्र ३३ में कथित चित्तप्रसाद और अध्यात्मप्रसाद का अन्तर हृदयंगम करना चाहिए—समझना चाहिए ।

४८ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।

उस स्थिति में प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है ।

विशेष :— ऋतम्भरा प्रज्ञा, अनुभवपूर्ण, सुनी हुई प्रज्ञा से भिन्न, 'निजनयनन देखी' होती है । स्वसवेदनशीलता कही जा सकती है ।

४९ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।

ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुत तथा अनुमान द्वारा प्राप्त प्रज्ञा से भिन्न विषय वाली—स्वसंवेदनशील—होती है, विशेष अर्थ होने से ।

५० तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ।

उस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न होने वाले संस्कार अन्य संस्कारों को उभरने नहीं देते ।

५१ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

उस ऋतम्भरा जन्य संस्कार के भी निरोध से—सब संस्कारों के निरोध पर—निर्बीज समाधि प्राप्त होती है ।

विशेष :— सूत्र १८ का वि. वि. देखें ।

# साधनपाद

समाधिपाद में समाधि का, उसके सब संभव उपायों के विकल्पों के स
वर्णन किया गया है। समाधि स्थिति को, विभिन्न प्रकारों से क्रमशः अन्तः प्र
कराकर, ग्राह्य कराने का प्रयास किया गया है। समाहित चित्तवालों को उस
ग्रहण सरल है, पर कर्तृत्व प्रधान सामान्य जन को उसका सहज ग्रहण सरल
होने से, उन विक्षिप्त मन वालों के लिए इस साधन पाद में, समाधि प्राप्ति
क्रिया योग बतलाया गया है।

१ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग है।

विशेष :— अमनस्क भाव में स्थित रहना तप है। महोपनिषद्
अमनस्क भाव के सम्बन्ध में कहा गया है 'तदेव च तपः शास्त्रे'।

मैं कौन हूं, इस प्रश्न पर पठन, मनन, निदिध्यासन करना स्वाध्याय है।

अपने व्यक्तिगत अस्तित्व का भान–अस्मिता–के मिट जाने पर, आप स
यह सब ईश्वर की सत्ता है, यह निश्चय ईश्वर प्रणिधान है (देखें सूत्र १–२३)

इन तीनों में से किसी एक में स्थित होने पर अन्य दो स्थितियों की प्रा
हो ही जाती है। तपवाली मन की अमनस्क स्थिति, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणि
की भी स्थिति है।

इस उद्देश्य से की गई शारीरिक क्रियायें, उपवास, तितिक्षा इत्यादि
कहलाते, आर्ष ग्रन्थों—वेद, शास्त्र, पुराणों का अध्ययन स्वाध्याय कहला
तथा उपासना रूपी कर्म ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

२ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

(उपरोक्त क्रिया योग) समाधि प्राप्ति हेतु तथा क्लेषों को मिटाने के उद्दे
से किया जाता है।

विशेष :— क्लेषों का मिटना और समाधि की प्राप्ति एक ही स्थिति
परिचायक है। समाधि का वर्णन समाधिपाद में किया गया, क्लेशों का वर्णन अ
किया जाता है।

३ **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।**

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (पांच) क्लेश हैं।

४ **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।**

प्रसुप्त, क्षीण, दबे हुए और व्युत्थित (उभरे हुए) राग, द्वेष, अभिनिवेश और अस्मिता रूपी क्लेशों का क्षेत्र – जन्म स्थान—अविद्या, है।

विशेष :—प्रसुप्त से भाव है, बीज रूप से चित्त में बने हुए क्लेश।

५ **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।**

अनित्य, अपवित्र, दुःखरूप और अनात्मरूप देह में नित्य, पवित्र, सुखरूप तथा आत्म—रूप का भाव, अविद्या है।

६ **दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।**

दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति का एक रूप जैसा भान अस्मिता है।

विशेष :—द्रष्टापना पुरुष की दृक्शक्ति है। दर्शनशक्ति चित्त की शक्ति है। चित्त का अपने को ही द्रष्टा मान लेना ही दोनों शक्तियों का एक रूप जैसा भान है। मन, बुद्धि, देह में अहंभास पैदा होना ही अस्मिता है।

७ **सुखानुशयी रागः ।**

सुख के बाद सुख भोगने की इच्छा राग है।

विशेष :—देह में अस्मितावशात् जिन विषयों में सुख प्रतीत हो, उन्हीं बिषयों को प्राप्त करते रहने की इच्छा राग है। इसी कारण अपनी देह में राग रहता है।

८ **दुःखानुशयी द्वेषः ।**

दुःखानुभूति के पश्चात् जो घृणा वा क्रोध पैदा होता है, वह द्वेष कहलाता है। अपने में राग होने से हम अपने दुःख का कारण 'पर' में देखते हैं, अतः अपने में राग होने से हम 'पर' में द्वेष रखते हैं।

९ **स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।**

अभिनिवेश (आग्रह) स्वरसवाही (स्वाभाविक) विद्वानों के ऊपर भी सवार रहता है।

विशेष :—मैं, तू, वह, यह, वह, सब रूपी आग्रह, कि मैं अमुक हूं, तू
अमुक है, वह अमुक है, विद्वानों में भी रहता है और इसी आग्रहपूर्ण विचार में—
विकल्प में—संसार का व्यवहार होता रहता है, यद्यपि वास्तविक सत्ता तो इन
आग्रहों के परे सबके मूल चित् की ही है।

(२) अभिनिवेश का अर्थ महान् विद्वानों ने मृत्यु का भय किया है। मृत्यु
का भय तो अविद्यावशात् देह को नित्य मानते हुए भी मृत्यु होते देखे जाने से होता
है। अतः यह मृत्यु का भय अविद्या क्लेश के ही भीतर माना जाना चाहिए।

(३) मृत्यु का भय सबको ही होता है इसलिए उसे स्वरसवाही मान
अभिनिवेश का भाव लिया जाता है। पर मृत्यु का भय कभी-कभी ही उत्पन्न होता
है जबकि आग्रह व्यवहार के सब काल में बना रहता है।

(४) मृत्यु के भय से मनुष्य अपने कर्म में चैतन्य रह सत्कर्म करने का ही
प्रयास करेगा, अतः वह क्लेश नहीं गिना जा सकता। क्लेशों के कारण सत्व्यवहार
के बदले असत् कार्य ही होंगे। उपरोक्त कारणों से अभिनिवेश का अर्थ आग्रह ही
समुचित है।

१० ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।

वे सूक्ष्म क्लेश प्रतिप्रसव द्वारा त्यागे जा सकते हैं।

विशेष :—कारण से कार्य की उत्पत्ति प्रसव तथा कार्य का कारण में
विलय प्रतिप्रसव कहलाता है। क्लेशों का उद्भव अविद्या से ही होता है। उनका
विलय भी अविद्या में ही होगा। यह प्रति प्रसव की क्रिया भी मानसिक ही
होगी।

११ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।

वे क्लेश जब वृत्तिरूप स्थूल होते हैं तब वे ध्यान द्वारा त्यागे जा सकते हैं।

विशेष :—ध्यान हेतु देखें सूत्र ३—२।

१२ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।

वर्तमान वा भविष्य जन्म में भोगे जाने वाले कर्म-फल क्लेशमूलक होते हैं।

१३ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

मूल (अविद्या) के रहते हुए; कर्मसंस्कारों का फल, जाति, आयु और
भोग हैं।

विशेष :– कर्म, कर्माशय, कर्मविपाक, अविद्या के रहते ही अस्तित्ववान रहते हैं। अविद्या मिटते ही अविद्या कर्म भी मिट जाते हैं।

१४. ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वत्।

वे (जाति, आयु, भोग) सुख दुःख कारक फल, पुण्य पाप के कारण होते हैं।

१५ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं। विवेकिनः।

विवेकियों के लिये, गुणवृत्तियों में विरोध होने से तथा सुख में भी परिणाम दुःख, तापदुःख और संस्कार दुःख होने से सब दुःख ही है।

विशेष :—गुणवृत्तियां, सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी होने से—सुखरूप, दुःखरूप तथा मोहरूप होने से—उनमें विरोध स्पष्ट ही है। सुख में राग रहता ही है, सुख की इच्छा से तृष्णा बढ़ती, पूर्ति न होने पर द्वेष बढ़ता और राग द्वेष वशात् दुःख होता है। सुख के नाश होने पर भी सुखाभाव होने का दुख होता है। इस तरह सुख में भी परिणाम दुःख, तापदुःख और संस्कार दुःख होने से विवेकियों के लिए सुख भी दुःख है। सुख के अर्जन, रक्षण, और नाश में दुःख ही तो होता है।

१६ हेयं दुःखमनागतम्।

आने वाले दुःख त्याज्य हैं—उनसे बचना चाहिए।

विशेष :– जो दुःख भोगे जा चुके हैं और जो भोगे जा रहे हैं और नाश होने वाले हैं उनसे बचा नहीं जा सकता—आने वाले दुःखों से ही बचा जा सकता है।

१७ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग दुःख का कारण है।

विशेष :–द्रष्टा का दृश्य से अन्यत्वरूप से संयोग होने पर, दृश्य को अपने भिन्न मान, उसे प्राप्तकर उससे सुख प्राप्ति की इच्छा ही दुःख का कारण है।

दृश्य का मूल रूप अव्यक्त है। दृश्य, द्रष्टा द्वारा द्रष्टृत्व के आरोपण के पूर्व, अव्यक्त रूप से अभिन्न रूप रहता ही है। द्रष्टृत्व के आरोपण के साथ ही भिन्नता का आरोपण होता है। भिन्नता में ही संयोग है। भिन्नता की अनुभूति ही दुःख का कारण है।

१८ प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।

प्रकाश, क्रिया, स्थिति रूपो त्रिगुणात्मक जिसका 'स्वभाव है; भूत इन्द्रि जिसका स्वरूप है; तथा भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है; वह दृश्य है।

विशेष :— अपवर्ग स्वरूपस्थिति कैवल्य— की प्राप्ति को कहते हैं। पवर्ग — पाप पुण्य — के परे है, अकर्तृत्व पद होने से ।

१९ विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

(त्रिगुणात्मक दृश्य की) विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग, (ये चार) अवस्थायें हैं।

विशेष : पञ्चमहाभूत, पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन, ये तत्त्व विशेष कहलाते हैं स्थूल होने से। पंच तन्मात्रायें— शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध; और अहंकार मिलकर अविशेष कहलाते हैं, सूक्ष्म होने से। महत्त (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) लिङ्ग मात्र कहलाता है, उसकी अनुभूति होने से प्रकृति वा चिति जो गुणों की साम्य स्थिति है, उसे अलिङ्ग कहते हैं। व अव्यक्त है दिखती नहीं—पर भासमान है, दृश्य की मूल अव्यक्त दशा में। अतः वह भी दृश्य ही मानी गई है।

सृष्टि क्रम में सूक्ष्म से स्थूल की ओर विकास होता है जबकि प्रलय में स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमशः प्रलय होता है। अनादि अनन्त सत्ता में सृष्टि और प्रलय भी नित्य ही होता रहता है।

२० द्रष्टादृशिमात्रःशुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।

द्रष्टा देखने की शक्ति मात्र है जो शुद्ध (निर्मल) होते हुए (चित्तवृत्तियों के अनुसार) प्रतीतियों का देखने वाला है।

विशेष :— द्रष्टा ज्ञान स्वरूप है। वह मूलतः न ज्ञाता है, न ज्ञेय ज्ञानानुभूति। द्रष्टा तथा ग्रहीता एक सदृश होते हुए भी, एक नहीं हैं। द्रष्टा सदा ही एकरस है। ग्रहीता ज्ञानकाल में ग्रहीता होता है। उदाहरण स्वरूप दर्पण अपना द्रष्टा सा सदैव ही है, एक रस रूप से, और दृश्य प्रतिबिम्बित होने पर, उसका भी द्रष्टा सा होता है।

२१ तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।

उस द्रष्टा के ही लिये दृश्य का पसारा है।

विशेष :— प्रकृति का दृश्य रूप पसारा पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के ही लिये है।

(देखें सूत्र १८)

२२ कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।

कृतार्थ के लिये नष्ट हुआ (यह दृश्य) अन्यों के लिये साधारण रूप से नष्ट नहीं होता—बना ही रहता है।

विशेष—कृतार्थ वह है जिसे स्वरूपस्थिति का—कैवल्य का—ज्ञान हो चुका है, जिसके लिये द्रष्टा दृश्य का भेद मिट चुका है—जो अभेदस्थिति में स्थित हो चुका है

दृश्य मिटने पर द्रष्टा भी नहीं रह जाता, किसका द्रष्टा हो? द्रष्टापना मिट जाना, चित् रूप ही हो जाना है, जिसमें विलय हो दृश्य मिट गया। द्रष्टा और दृश्य की मान्यतायें—विकल्प—अस्मिता की मान्यता के साथ बनी ही रहती हैं। मान्यताओं के साथ अनेकता भी बनी रहती हैं। इसलिए कृतार्थ के लिए नष्ट हुआ दृश्य अन्यो के लिए बना रहता है। ऐसा दृक्शक्ति तथा दर्शन-शक्ति की नित्यता के कारण होता है। दृश्य सदा था और सदा रहेगा भी। जानना केवल इतना ही है कि द्रष्टा और दृष्य एक अभिन्न सत्ता है।

२३ स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।

स्वशक्ति—दर्शनशक्ति तथा स्वामिशक्ति—दृक्शक्ति—का संयोग स्वरूप की उपलब्धि का हेतु है।

विशेष—सूत्र ६ देखें।

२४ तस्य हेतुरविद्या।

(उस) संयोग का कारण अविद्या हैं।

विशेष :— दृक्शक्ति तथा दर्शन शक्ति भिन्न न होते हुए भी उनकी भिन्नता अविद्याजन्य भेद के कारण आरोपित है। उनकी अभिन्नता का ज्ञान ही स्वरूपोपलब्धि है।

२५ तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।

उसके—अविद्याके—अभाव में संयोग का अभाव, हान—दुख का नाश—है। यही द्रष्टा का कैवल्य है—मोक्ष हैं।

२६ **विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।**

हान (दुखनाश) का उपाय अडोल—अचल—विवेकज्ञान है।

२७ **तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।**

उसकी—विवेक ख्याति की—प्रज्ञा सात प्रकार की भूमिकाओं। होती हैं।

विशेष :— सप्त भूमिकाओं के नाम (महोपनिषद के अनुसार) हैं :- शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति पदार्थभाविनी तथा।
१ २ ३ ४ ५ ६

| | | |
|---|---|---|
| शुभेच्छा है | — | स्वरूपोपलब्धि हेतु इच्छा |
| विचारणा | — | उस हेतु मनन वा निदिध्यासन |
| तनुमानसा | — | उस हेतु तदाकारिता |
| सत्वापत्ति | — | स्वरूप का ज्ञान |
| असंसक्ति | — | स्वरूपेतर से अनासक्ति |
| पदार्थाभाविनी | — | स्वरूपेतर सत्ता के अभाव की प्र |
| तुर्यगा | — | स्वरूपोपलब्धि |

इन्हीं भूमिकाओं के आधार पर रामायण सात काण्डों में रची गई है।

२८ **योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।**

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय हो जाने पर ज्ञान का प्र विवेकज्ञानपर्यन्त होता है।

विशेष :— गीता ६—१२ के अनुसार "युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये"। अन्तःकरण के—चित्त के—अशुद्धि का होना है। ज्ञान का प्रकाश चित्त में ही है। अन्तःकरण की अशुद्धि का क्षय और अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश अन्त अनुष्ठान से होगा न कि बहिर्मुखी अनुष्ठान से। अतः योगाङ्गों का अन्त अन्तर्मुखी करना होगा। अन्तर्मुखी अनुष्ठान के लिए योगाङ्गों का भी अन्त अर्थ ग्रहण करना होगा, जो स्वसंवेदनशीलता से ही ग्राह्य है।

२९ **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि**

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समा योग के आठ अङ्ग हैं।

**विशेष**:— समाधि पाद सूत्र २० से तुलना करें। उसके अनुसार श्रद्धा, ीयु, स्मृति जन्य समाधि से प्रज्ञा स्वाभाविक ही पैदा होती है। इस अष्टांङ्ग ोग जन्य समाधि में प्रज्ञा का उदय नहीं बतलाया गया है। घुणाक्षरन्यायानुरूप कसी की प्रज्ञा जागृत हो जाय तो हो जाये।

३० **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।**
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यम कहलाते हैं।

**विशेष** :— सूत्र २८ के अनुसार योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का क्षय ी ज्ञान प्रदीप्त होता है। स्पष्ट है कि अन्तर्शुद्धि का संकेत है। अन्तर्शुद्धि आंतरिक ाधन से ही सम्भव है। अत: ये पांचों ही यम अपने ही भीतर जानना है। इनका ाहिरी अभ्यास तो इसी अन्तर्ज्ञान को जागृत करने के उद्देश्य से ही किया ोता है।

१ अहिंसा से भाव है कि दूसरों से सुनकर, हम जो हैं उसे भूलकर, अपने को अमुक नाम वाला, अमुक जाति वाला, इत्यादि मान बैठना अपनी हिंसा है। यह हिंसा न कर हम जो हैं सो जानना अहिंसा है।

२ सत्य से भाव हैं : हम जो सत्य में हैं उस सत्य को जानना।

३ अस्तेय का अर्थ है, चोरी न करना। हम अपने को जब अमुक मान बैठते; हैं, हम समष्टि से अपने आपको चुरा लेते हैं। ऐसा न करना—यह जानना कि हम अमुक न हो समष्टि से अभिन्न हैं—यही अस्तेय का भाव है।

४ ब्रह्मचर्य से भाव है : ब्रम्हरूपा समष्टि में अभेद भाव से व्यवहार करते रहना।

५ अपरिग्रह से भाव है : 'मेरे' 'हमारे' भाव का त्याग। परिग्रह है यह भाव कि यह 'मेरा' हैं, 'हमारा' है। इस 'मैं' और 'मेरे' का त्याग ही अपरिग्रह है।

इन अन्तर्मुखी भावनावश बाहरी व्यवहार भी इन्हीं के अनुरूप होगा। न यमों का बाहरी व्यवहार तो अन्तत: उपरोक्त यथार्थ को हृदयंगम करने के ही ये हैं।

३१ **जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्।**
यम, जाति, देश, काल वा समय (प्रात: संध्या इत्यादि) सीमा से अबद्ध ार्वभौम महाव्रत है।

३२ **शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।**

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्राणिधान नियम हैं।

**विशेष** :— यम समष्टिगत व्रत है जबकि नियम व्यष्टिगत । तप, स्वाध्या[य] तथा ईश्वर प्रणिधान का अर्थ सूत्र १ के वि. वि. में दिया गया है। शौच त[था] सन्तोष का अर्थ है चित की निर्मलता तथा चित्त का प्रसाद। उस हेतु बाह्य प्रयत्न भी होते हैं।

३३ **वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।**

यम नियम के अभ्यास में वितर्क की बाधा उत्पन्न होने पर प्रतिपक्ष [की] भावना करनी चाहिए।

**विशेष** :—वितर्क बाधा तथा प्रतिपक्ष की भावना अगले सूत्र में स्पष्ट कि[ये] गये हैं।

योगाङ्गों का उद्देश्य चित्त शुद्धि है, अतः बाधा दूर करने का उपाय भी आन्तरिक ही बतलाया गया है।

३४ **वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्**

लोभ, क्रोध, मोह के कारण किए हुए, कराये हुए वा अनुमोदित हिंसा आदि वितर्क बाधा हैं जो मृदु मध्य वा तीव्र होते हैं। ऐसे कर्मों का फल अनन्त दुःख और अज्ञान है, ऐसा सोचना प्रतिपक्ष भावना है।

**विशेष** :—मानसिक चिन्तन पर ही जोर दिया गया है।

३५ **अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।**

अहिंसा की दृढ़ स्थिति पर उसके निकट वैरत्याग होता हैं।

**विशेष** :— अहिंसा स्थिति दृढ़ होने पर, 'पर' की भावना ही जागृत नहीं होती—वैरत्याग स्वाभाविक ही हो जाता हैं।

इसका चमत्कारिक अर्थ किया गया है कि अहिंसा सिद्ध हुए योगी के प्रति हिंसक पशु भी वैर त्याग देते हैं। चमत्कारिक अर्थ यदि सत्य होता तो पाणिनि मुनि को व्याघ्र न खा जाता।

६ **सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।**

सत्य में दृढ़ स्थिति होने पर क्रिया फल के आश्रित रहती हैं ।

**विशेष :—** सत्य में प्रतिष्ठित होने पर, किसी वस्तु की इच्छा न रह जाने , कर्म जो होंगे वे निष्कर्म होंगे; कर्म 'किये न जाकर कर्म होंगे । क्रिया निमित्त ात्र ही होगी । इस तरह क्रिया फलके आश्रित होगी । इसका चमत्कारिक अर्थ है वाचा—सिद्धि प्राप्त हो जाती है—जो कहा जायगा वह पूरा होगा ।

७ **अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।**

अस्तेय की प्रतिष्ठा में सब रत्नों की प्राप्ति होती हैं ।

**विशेष :—** अपने आपको अलग मान, जब हम अपने को समष्टि के चुरा ते हैं, तब समष्टि की बची हुई सब वस्तुयें हमें अप्राप्य हो जाती हैं । जब हम अपने समष्टि का ही अभिन्न अंग जान लेते हैं, अस्तेय की भावना प्रतिष्ठित हो ती हैं । तब समष्टिगत सब वस्तुयें, सब रत्न भी, समष्टि भाव में, अभिन्न होने ह प्राप्त ही रहते हैं ।

**ब्रम्हचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः**

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है—बलवान होता है ।

**विशेष :—** अहिंसा, सत्य और अस्तेय में प्रतिष्ठित होना, मान्यताविहीन ना है ! इस मान्यता विहीन स्थिति में जो भी व्यवहार होगा वह 'ब्रह्म' में ही रण होगा । ऐसे व्यवहार में—राग-द्वेष न होने से वह व्यवहार वीर्यवान या साह युक्त व्यवहार होगा । इसी स्थिति में 'योग: कर्मसु कौशलं' अनुरूप कर्म ता है ।

चमत्कारिक अर्थ की पुष्टि में हनुमान जी का उदाहरण दिया जाता है कि त ब्रह्मचारी थे अत: अतुलित बलशाली थे ! हनुमान कोई साढ़े तीन हाथ के क्ति विशेष—'प्राकृत जन'—न थे । हनुमान का स्वसंवेदनशीलता से अर्थ है : वह जिसकी मान्यताओं का हनन हो चुका है अर्थात मान्यता विहीन मन । इसीलिए वे र माने जाते हैं ।

**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोध : ।**

अपरिग्रह की स्थिरता में जन्म कैसे पन का बोध होता है ।

विशेष :— 'मैं' अरु 'मोर' की भावना दृढ़तापूर्वक मिट जाना ही अपरि
स्थिति में स्थिर होना है। 'मैं' अरु 'मोर' की भावना मिट जाने पर अपना
क्या है, कैसे, है, इसका उद्देश्य क्या है का पता चल जायगा।

चमत्कारिक का अर्थ है कि अपरिग्रह सिद्ध होने पर, भूत, वर्तमान, भवि
के जन्मों का ज्ञान प्राप्त होता है। यह अर्थ असिद्ध ही है।

४० शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

४१ सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

शौच से, अपने शरीर से घृणा तथा पराये शरीर से संसर्ग में अरुचि
होती है।

(साथ ही) चित्त शुद्धि, मन की शांति, एकाग्रता, इन्द्रियजय तथा आ
दर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

४२ संतोषादनुत्तमसुखलाभः।

संतोष से परमोत्तम सुख प्राप्त होता है।

४३ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

तप द्वारा अशुद्धि के क्षय होने से शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि प्रा
होती है।

विशेष : शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि से भाव है शरीर तथा इन्द्रि
का पुष्ट वा स्वस्थ होना। आवरण क्षय होने तथा अन्तर्मन में प्रवेश होने
अतीन्द्रिय शक्तियां—सिद्धियाँ—भी प्राप्त होना सम्भव है, पर वे शक्तियां कि
क्रिया विशेष द्वारा अर्जित नहीं की जा सकती। जो शक्तियां अर्जित की जा सक
हैं वे सिद्धियां न हो सरकस के खेल के ही उपयुक्त हैं।

तप का अर्थ सूत्र १ के वि. वि. में देखें।

४४ स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।

स्वाध्याय से इष्ट देवता से मिलन होता है।

विशेष :— स्वाध्याय का अर्थ सूत्र १ वि. वि. में देखें। इष्ट देवता
भाव है आत्मा से — इष्ट देवता मिलन से भाव है—आत्म साक्षात्कार से। साध
के क्रियाकाल में कल्पित इष्ट देवता के कल्पित दर्शन भी संभव है।

४५ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

विशेष :— समाधि पाद सूत्र २३, २४, २७, २८ तथा साधनपाद सूत्र १ और ३२ देखें।

{ ४६ स्थिरसुखमासनम्।
४७ प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

प्रयत्न की उपरामता तथा अनन्त में समाहित चित्त होने से आसन स्थिर और सुखदाई होता है।

विशेष :— आसन वही है जिसमें मन और शरीर दोनों की चंचलता मिटी हुई हो। यम और नियमों की परिपक्वता से, प्रयत्न में उपरामता आ जाती है, साथ ही, सीमितपने का भान मिटने से चित्त अनन्त में समाहित हो जाता है, तथा मन की चंचलता मिट जाती है। मन स्थिर होने पर, शरीर भी वश में रहता है। ऐसी अचंचल स्थिति ही 'आसन' है। मन और शरीर की अचंचलता से आसन भी स्थिर हो जाता हैं। चाहे जैसे जहां रहो "ठाड़े बैठे, पड़े उताने रहते सदा हम वही ठिकाने", आसन स्थिर ही रहता है। स्थिर आसन ही सुखदाई होता है।

तंत्रों में आसन का बहुत विशद वर्णन किया गया हैं। पुष्टता तथा स्वास्थ्य हेतु वे लाभप्रद अवश्य हैं। मन को भी वश करने में उनसे सहायता मिल सकती है। पर एक बात निश्चित है कि क्रियत्व के आधार पर किये आसनों द्वारा प्रयत्न शैथिल्यता — उपरामता — प्राप्त ही नहीं हो सकती और न प्राप्त हो सके अनन्तसमापत्ति ही कर्तृत्व के अहंकारवशात्।

४८ ततो द्वन्द्वानभिघातः।

(आसन सिद्ध हो जाने पर) तब द्वन्दों से चित्त विचलित नहीं होता।

विशेष—द्वन्द्व से भाव है, सुख-दुःख, शीतोष्ण। चंचल स्थिर—ऐसे द्वन्द्व भावों से।

आसन सिद्धि से द्वन्द्वातीत पद प्राप्त होता है।

४९ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

द्वन्द्वातीत हो जाने पर, श्वास प्रश्वास में विच्छेद होना प्राणायाम है।

विशेष :—समाधिपाद सूत्र ३४ देखें।

श्वास प्रश्वास के विच्छेद काल को कुम्भक कहते हैं। बाह्याभ्यान्तर कु
ही प्राणायाम है। कुम्भक दशा में ही प्राणों को आयाम (आराम) मिलता है
तंत्रों में प्राणायाम संबंधी विशद साहित्य है।

५० बाह्याभ्यान्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

बाह्याभ्यन्तर कुम्भक वृत्ति देशकाल संख्यानुसार (गिनने द्वारा) भली
देखी (जानी) जा सकती है। वे दीर्घ व सूक्ष्म होती हैं।

विशेष :—श्वासवृत्ति निरोध समाधि नहीं है। श्वासावरोध में अचे
रहती है, जबकि समाधि पूर्ण चेतनावस्था है। समाधि की उपलब्धि हेतु श्वासा
सहायक अवश्य हो सकती है यदि चेतनता बनाई रखी जा सके। श्वासवृत्ति नि
चित्तवृत्ति—निरोध में वैसी सहायक नहीं है जैसी चित्तवृत्ति निरोध श्वास
निरोध में। श्वासवृत्ति निरोध से चित्तवृत्ति—निरोध अवश्यंभावी नहीं है
चित्तवृत्ति निरोध से श्वासवृत्ति निरोध हो ही जाता है। यही सुषुम्ना के द्वार
खुल जाना है। चित्त का, श्वासावरोध से, मुर्छित हो जाना चित्तवृत्ति निरोध
है। इसे भली प्रकार से समझ लेना चाहिए।

५१ बाह्यभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

(रेचक तथा पूरक रूप क्षेपण करने से जो) बाह्याभ्यन्तर विषय (कुम्
बनता है (उससे भिन्न) क्षेपण के बिना (जो कुम्भक बनता है) वह चतुर्थ प्र
का (प्राणायाम, किए हुए पूरक रेचक कुम्भक से भिन्न) होता है।

विशेष :—यम, नियम, आसन द्वारा मन के शांत होने पर जो प्राणा
सहज होता है वही यह चौथे प्रकार का प्राणायाम है। यह कर्तृत्वविहीन है
सहज है—सतत है। यही समाधिस्थिति है, पर अभी दृढ़ नहीं है व्युत्थानसहित
यही प्राणायाम है जिसका सूत्र २९ में उल्लेख है।

५२ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

तब (चतुर्थ प्राणायाम सिद्ध होने पर) ज्ञान—सापेक्षज्ञान—का आवर
क्षीण हो जाता है।

विशेष :—सूत्र ३—४३ से तुलना करें।

प्रकाशावरण से भाव है, 'मैं', 'तू', 'वह', 'यह', 'वह', 'सब' ह

सापेक्षज्ञान, जो दूसरों से सुनकर—'श्रुतानुमान' द्वारा—प्राप्त होता है। चतुर्थ प्राणायाम—सहजगति से प्रवाहित, अकर्तृत्व भावना विहीन श्वसन, प्रश्वसन, स्तम्भन क्रिया—की स्थिति में, सापेक्षज्ञान का आवरण क्षीण हो एक निर्वेद सी स्थिति प्राप्त होती है। (देखें गीता २—५२) उसी स्थिति का वर्णन है यह।

**५३ धारणासु च योग्यता मनसः।**

(चतुर्थ प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाशावरण क्षीण हो जाता) और मन में धारणा की योग्यता प्राप्त होती है।

विशेष :—प्रकाशावरण के क्षय होने पर जो निर्वेद सी स्थिति प्राप्त होती है, उस चंचलताविहीन निर्वेद स्थिति में धारणा की योग्यता प्राप्त होती है।

**५४ स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः।**

(उपरोक्त स्थिति में) इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप के अनुकरण द्वारा, अपने विषयों से संबंधविच्छेद प्रत्याहार है।

विशेष :—आवरणविहीन चित्त की निर्वेद स्थिति में इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध—विच्छेद हो ही जाता है। चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषयों में अप्रवृत्ति ही प्रत्याहार है।

**५५ ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।**

तब यही इन्द्रियों का पूर्ण रूप से वश में होना है।

विशेष:—चित्त की वृत्ति—शून्य स्थिति में ही इन्द्रियां पूर्ण रूप से वश में रहती हैं। इच्छा मात्र से ही, चित्तवृत्ति निरोध के साथ इन्द्रिय निरोध हो जाय यही इन्द्रियों का पूर्ण रूप से वश में होना है।

# विभूतिपाद

समाधिपाद में समाधिपाद का वर्णन, समाहित चित्त वालों के लिये, का साधनपाद में कर्तृत्व प्रधान विक्षिप्त मन वाले सामान्य जन को क्रिया योग बतला गया। साधनपाद में, साधक को यम, नियम, आसन, प्राणायाम कराते प्रत्याहार दशा में स्थित करा दिया जाता है। उस स्थिति में इंद्रियों के वश में जाने से, मन की चंचलता मिटकर धारणा की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

बचे तीन अन्तरंग साधनों—धारणा, ध्यान, समाधि—का वर्णन इस ती पाद में, किया गया है तथा सब संभावित सिद्धियों का वर्णन करते हुए, आ किया गया है कि वे समाधि में विघ्न हैं तथा उनसे साधक का साधन से पतन हो भी संभव है। ये सिद्धियां प्रदर्शनार्थ ही उपयोगी हैं, परमार्थ लाभ में उनका भी योग नहीं होता। इसका वर्णन श्रद्धापूर्वक योग में प्रवृत्त कराने के उद्देश्य से किया गया है। इन विभूतियों के शाब्दिक अर्थों को ही ग्रहण कर कई युवकों उनके पीछे अपना जीवन होम दिया।

**१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**

**चित्त का देश विशेष में बांधना धारणा है।**

**विशेष :**—काल की गतिमत्ता में, चित्त बांधा नहीं जा सकता पर दे में—बाह्य और अन्तरिक दोनों में—चित्त लगाया जा सकता है। बाहर किसी चि पर या मूर्ति पर या किसी अन्य वस्तु पर धारणा की जा सकती है। उसी प्रक अन्तर में किसी कल्पित चक्र पर अथवा हृदय, नाभि या कण्ठ या अन्य पर धार की जा सकती है।

**२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**

**उस धारणा में वृत्ति की एक—तानता ध्यान है।**

**विशेष :**—एक—तानता से भाव है एक सा लगातार बने रहना। धारण में त्रिपुटी—धारणा करने वाला, धारणा का विषय तथा धारणा का ज्ञान ब रहता है। ध्यान में त्रिपुटी का ज्ञान नहीं रहता, केवल ध्येय विषय का ही ध्या लगा रहता है।

३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

वही (ध्यान की स्थिति) जब अर्थमात्र की प्रतीति से (भी) रहित, स्वरूप शून्य सी हो जाती है, समाधि है।

विशेष :— समाधि में समग्र त्रिपुटी विलीन हो जाती है।

४ त्रयमेकत्र संयमः।

तीनों का (एक विषय में) एकत्र होना संयम है।

५ तज्जयात्प्रज्ञालोकः।

उसके सिद्ध होने पर प्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है।

६ तस्य भूमिषु विनियोगः।

संयम का (धारणा, ध्यान, समाधि)-भूमियों में विनियोग होता रहता है।

७ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।

तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) पूर्व वाले (साधन, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) की अपेक्षा अन्तरङ्ग है।

८ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।

तो भी (वे धारणा, ध्यान, समाधि) निर्बीज (समाधि) के बहिरंग हैं।

९ व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।

व्युत्थान तथा निरोध संस्कारों का क्रमशः अभिभव तथा प्रादुर्भाव निरोधक्षण है, उस क्षण में चित्त की अन्विति—सम्बद्धता—निरोध परिणाम है।

विशेष :—यह निरोधक्षण ही मध्यस्थिति या योग भूमिका कहलाती हैं जिसे निम्न प्रकार से भी दर्शाया गया है :—

"दिवस का अवसान हुआ नहीं,
रात्रि का प्रसव हो नहीं पाया,
आकाश का वह सतत सांध्यभाव
जिस पर प्रकाश वा अंधकार का नर्तन होता रहता है"

"एक तरंग डूबी नहीं, दूसरी उठ न पाई
जलधि का वह सतत शांत भाव
जिस पर तरंगों का असम नर्तन
होता रहता है ॥"
"एक प्राण डूबे नहीं, दूजी उठ न पावे
कुम्भक का वह सतत भाव
जिस पर प्राणों का
नर्तन होता रहता है ॥"

"एक वृत्ति डूबी पर दूसरी उठ न पाई।" इसके मध्य की स्थिति ही नि
क्षण है। उस निरोध क्षण की अनुभूति ही निरोध परिणाम है। इस अनुभूति
एक—तानता सबीज समाधि है।

व्युत्थान तथा निरोध संस्कार चित्त के स्वाभाविक धर्म हैं। वे वृत्ति
नहीं हैं इसलिये वृत्तियों के निरोध पर भी इनका निरोध नहीं होता। नि
क्षण (सबीज समाधि) में, सब वृत्तियों के निरोध पर भी, संस्कार बने रहते हैं
चित्त के वर्तमान रहने के कारण। चित्त का जब चिति में लय हो चिति का चित्
विलय हो जाता और निर्बीज समाधि प्राप्त होती है तब ये संस्कार भी मिट जाते

**१० तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।**

चित्त का प्रशान्त रूप से (एक रस रूप से) बहना निरोध परिणाम
संस्कार वशात्, होता है।

**११ सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः।**

सर्वार्थताकाक्षय और एकाग्रता का उदय चित्त का समाधि परिणाम

विशेष :—निरोध परिणाम की परिणति समाधि परिणाम होती है।

**१२ शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।**

तब फिर शान्त तथा उदित की समान प्रतीति चित्त का एकाग्र
परिणाम है।

विशेष :—निरोध परिणाम की परिणति समाधि परिणाम में तथा सम
परिणाम की परिणति - एकाग्रता परिणाम में होती है। निरोध परिणाम, सम
परिणाम तथा एकाग्रता परिणाम, क्षणिक ही होते हैं, पर—एकाग्रता परिणा

क्षणिक अनुभूतियों का प्रवाह एक—तानता के साथ प्रवाहित रहता है। कविवर बिहारी की इस संबंध में अभिव्यक्ति है :—

"छिनकु छाकु उछकै न फिर"

इस स्थिति में न विक्षेप से दुख हो न समाधि से हर्ष।

१३ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।

इससे ही भूत तथा इन्द्रियों के धर्म परिणाम तथा अवस्था परिणाम की व्याख्या हो गई जानना चाहिए।

विशेष :—सूत्र ९ में वर्णित धर्म परिणाम चित्त रूपी धर्मी के हैं। धर्म परिणाम के साथ ही लक्षण परिणाम तथा अवस्था परिणाम भी होते हैं। लक्षण परिणाम, भूत, वर्तमान तथा भविष्य लक्षणों के अनुसार होते हैं तथा अवस्था परिणाम जन्म, वृद्धि, मृत्यु रूपी अवस्थानुसार होते हैं। उदाहरणत:—मिट्टी का घड़ा, ग्लास कटोरा में परिणत होना मिट्टी रूपी धर्मी के धर्म परिणाम हैं। वे बर्तन बनने के पहले न थे, अब हैं और भविष्य में फूट जायेंगे यह लक्षण परिणाम है। वही बर्तन बने, पुराने हो गये और घिसकर फूट गये, यह अवस्था परिणाम है।

१४ शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।

शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य (जिसका निरूपण न हो सके) धर्मों का अनुगामी धर्मी है।

विशेष :- चित् अखंड अनन्त चित् सागर है जो सब धर्मों—गुणों—से अतीत है। उसकी स्वाभाविक गतिमत्ता में उत्पन्न सीमित अहमन्यता द्वारा चित्त की निर्मिति होती है (सूत्र ४-४०) चिति से अभिन्न होनें के कारण चित्त का भी सतत् गतिमान रहना, उसका धर्म है। चित् सागर में चित्त रूपी लहरों की शान्त तथा उदित अथवा उदित और शान्त संस्कारों के मध्य की सूक्ष्म तथा स्थूल स्थिति का निरूपण असंभव ही है, उसकी सतत् गतिमत्ता के कारण, नामों का आरोपण भले किया जाय पर आरोपण आरोपण ही है। सूक्ष्म मध्य स्थिति को निरोधक्षण कहा गया है। स्थूल मध्य स्थिति को तो अनेक नाम दिये जा सकते हैं और दिये गये हैं। ये नाम केवल आरोपण हैं। इसलिए उस मध्य स्थिति को अव्यपदेश्य कहा गया है :

१५ क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ।

क्रमों के भेद परिणाम के भेद में हेतु हैं ।

विशेष :— क्रम से भाव है शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्य मव्यस्थि क्रम से । परिणाम से भाव है धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम तथा अव परिणाम से ।

१६ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ।

तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और अनागत का ज्ञान होता है।

विशेष :— किसी वस्तु पर इन तीनों परिणामों को ध्यान में रख संयम किया जाय तो उस वस्तु के भूत तथा भविष्य दशा का ज्ञान होता है । इ चमत्कारिक अर्थ किया जाता है कि इस संयम से त्रिकाल ज्ञान प्राप्त होता है।

१७ शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सव रुतज्ञानम् ।

शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर मेल से वा अभ्यास से, अभेद वासना है हैं । उनके विभाग में संयम करने से सब विषयों के सत्य अर्थ का ज्ञान होता है

विशेष ।— शब्दों की ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, तथा स्वात्मकता संयम करने से शब्दों के यथार्थ का ज्ञान होता है । उदाहरणार्थ महाभार युधिष्ठिर आकाश के प्रतीक हैं । यह उस शब्द के ध्वनि; प्रतीक तथा स्वात्मकत ग्रहण किया जा सकता है, यह समझने से कि चाहे जितनी तेज वायु या दावानल जले, आकाश स्थिर ही रहता है ।

सूत्र का चमत्कारिक अर्थ किया गया है कि शब्द ज्ञान और अर्थ पर अल संयम करने से सब भूतों की बोली समझ में आती है ।

१८ संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ।

संस्कार के साक्षात्कार करने से संस्कार के पूर्व में पैदा होने के कारण पता चलता है ।

विशेष :— संस्कार को जान लेने पर ( कि मुझ में क्रोध के या लोभ संस्कार हैं ) उस पर संयम करने से पता चलता है कि वह संस्कार कब वा पैदा हुआ —संस्कार के पूर्व जन्म का ज्ञान होता है ।

इसका चमत्कारिक अर्थ किया जाता है कि योगी को अपने पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त होता है।

१९ प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।
२० न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।

(अपने) अनुभवों पर संयम करने से अन्य के चित्त के (भाव) का ज्ञान होता है। पर उस अन्य के चित्त के विषयों का ज्ञान नहीं होता, वे विषय संयम के विषय न होने से। अपने अनुभव के आधार पर कि हमारे चित्त के भाव भी उस प्रकार प्रकट होते हैं, पर चित्त के भावों का ज्ञान होता है,

२१ कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षु:प्रकाशासंप्रयोगेऽन्तर्धानम्।

(अपने) शरीर के रूप पर संयम करने से, शरीर की ग्राह्यशक्ति स्तंभित होने पर, आंखों के प्रकाश का सम्यक् प्रयोग न होने से, आंखें अन्तर्धान—अन्तर्मुख—हो जाती हैं।

विशेष :—सूत्र का चमत्कारिक अर्थ है कि देह के रूप पर संयम करने से, योगी दूसरों की दृष्टि से छिप जाता है। यह चमत्कारिक अर्थ सूत्र के शब्दों से नहीं निकलता। सूत्र में 'चक्षु' कर्ताकारक है, चक्षु अन्तर्धान—अन्तर्मुखी—होता है।

२२ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

कर्म जो आरंभ हो चुके हैं तथा जो अभी आरंभ नहीं हुए हैं उन पर संयम करने से तथा उन कर्मों के करने में जो बाधायें आती हैं उनसे भी, कर्म का फल—अन्त—जाना जा सकता है।

विशेष:—सूत्र का चमत्कारिक अर्थ किया जाता है कि पूर्व जन्म के कर्म जो फल देना अभी आरंभ नहीं हुआ है, उन पर संयम करने से अथवा अरिष्टों से मृत्यु का ज्ञान होता है। सोपक्रम तथा निरुपक्रम कर्म कौन से हैं, यह कैसे पता चले, नहीं बतलाया गया है। बिना जाने संयम कैसे किया जा सकता है? यह चमत्कारिक अर्थ चमत्कारिकता—बताने ही के लिये विद्वानों द्वारा किया गया है! किसी ने ठीक ही कहा है कि विद्वान वह है जो सरल बात को उलझा दे।

२३ मैत्र्यादिषु बलानि।

मैत्री इत्यादि (मैत्री, मुदिता, करुणा) में संयम करने से बल की प्राप्ति होती है।

२४ बलेषुहस्ति बलादानि ।

बल में संयम करने से हस्तिबल इत्यादि प्राप्त होता है ।

विशेष :—मैत्री और करुणा भावना दृढ़ होने से हाथी इत्यादि पशु भी अधीन हो बल बढ़ाते हैं ।

इसका चमत्कारिक अर्थ है कि संयमकर्ता स्वयं हस्तिवत् बलवान हो जाता है ।

२५ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।

प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने पर (अर्थात् संयम करने पर) सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) व्यवहित (ढकी हुई) तथा विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तुओं का ज्ञान होता है ।

विशेष :—सूत्र ५ में वर्णित है कि संयम सिद्ध होने पर प्रज्ञा का आलोक प्राप्त होता है । प्रज्ञा के आलोक में प्रवृत्ति द्वारा—अनुमानादिक प्रमाण द्वारा—सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट वस्तुओं के संबंध में भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

२८ भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।

सूर्य में संयम करने से भुवन ज्ञान प्राप्त होता है ।

विशेष :—अब तक जो भी भुवन ज्ञान, आर्यभट्ट बाराहमिहिर तथा अन्य नववैज्ञानिकों द्वारा नये उपकरणों की सहायता से प्राप्त किया है और नया ज्ञान जो प्राप्त किया जा रहा है वह सब सूर्य में संयम करके ही प्राप्त हुआ है और हो रहा है । सूर्य केन्द्र है भुवन ज्ञान प्राप्ति का । नववैज्ञानिक उपकरणों का भी प्रयोग बिना संयम के नहीं हो सकता ।

एकाधिक महानुभाव सूर्य में संयम के नाम पर, सूर्य की ओर टकटकी लगाकर अपनी नेत्र ज्योति खो चुके यह भूलकर कि संयम अन्तरंग साधन है, बहिरंग क्रिया नहीं है ।

२७ चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।

चन्द्रमा में संयम करने से तारा व्यूह का ज्ञान प्राप्त होता है ।

विशेष :—ताराव्यूह=नक्षत्र मंडल । अश्विनी भरणी इत्यादि नक्षत्र मंडलों का ज्ञान चन्द्र को केन्द्र मान संयम द्वारा ही प्राप्त हुआ है । आकाश गंगा संबंधी ज्ञान नववैज्ञानिक प्राप्त कर रहे हैं उसका भी केन्द्र चंद्र ही है । सूर्य के

प्रकाश में नक्षत्र मंडल दृश्य न होने से, सूर्य पर संयम करने से नक्षत्र मंडलों का ज्ञान नहीं हो सकता।

२८ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।

ध्रुव में संयम करने से ताराव्यूहों की गति का ज्ञान होता है।

विशेष :—ध्रुव को स्थिर मानकर सापेक्षता के आधार पर नक्षत्रों की गति का ज्ञान होता है।

२९ नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।

नाभिचक्र में संयम करने से कायव्यूह का ज्ञान होता है।

विशेष :—नाभि शरीर का मध्य बिन्दु है। उस पर संयम करने से पता चलता है कि शरीर के सब अंग अपने स्थान पर यथास्थित हैं कि नहीं।

३० कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः।

कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास मिट जाती है।

विशेष :—संयम काल में भूख प्यास न लगेगी।

३१ कूर्मनाड्याम् स्थैर्यम्।

कूर्मनाड़ी में संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है।

विशेष :—कूर्म नाड़ी हृदयस्थ है। उस पर संयम करने से अन्तर्मुखता प्राप्त हो मानसिक स्थिरता प्राप्त होती है। चमत्कारिक अर्थ है कि देह को स्थिरता—अजरता, अमरता—प्राप्त होती है।

३२ मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।

मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्धों के दर्शन होते हैं।

विशेष :—शाश्वत गतिमत्ता में गतिमान ज्योति रूपी प्रज्ञालोक में (सूत्र देखें) जो दर्शन का भान होता है उसे सिद्धों के दर्शन का नाम दिया गया है। सुने कथानक सत्य से प्रवाहमान प्रतीत होते हैं।

३३ प्रातिभाद्वा सर्वम्।

प्रतिभा के प्रकाश में सब ज्ञान प्राप्त होता है।

प्रातिभ=प्रज्ञा से उद्भूत=औत्पत्तिक मनीषा=सज ज्ञान।

३४ हृदये चित्तसंवित् ।

हृदय में संयम करने से चित्त रूप चेतन का ज्ञान होता है

विशेष :—समाधिपाद सूत्र २ का वि०वि० देखें ।

३५ सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।

सत्त्व (चित्त) और पुरुष परस्पर अत्यंत भिन्न (होते हुए भी) उनकी प्रतीतियों का—अनुभवों का—भोग अभेद है। परार्थत्व से (हटकर) स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता हैं।

विशेष :—समाधिपाद सूत्र २ का वि०वि० देखें।

'पर' भाव का मिटना साथ ही 'स्व' भाव की अनुभूति ही पुरुष ज्ञान है 'स्व'—भाव, 'स्व' 'पर' निरपेक्ष 'स्व' की प्रतीति है। निरपेक्ष 'स्व' का अनुभव केवल—अनुभव स्वरूप है। परार्थत्व से हटकर स्वार्थ में संयम करने से भाव है: द्रष्टा का अपने आपका दर्शन। इस दशा में अस्मिता मात्र बनी रहती है। जहां न द्रष्टा है, न दर्शन, न अस्मिता, वहां कौन किसमें संयम करे। उसके विषय में कहा गया है :—

"विज्ञातारम् रे केन विजानीयात् ।"

चित्त का चिति में लय हो चित् में विलय की स्थिति है।

३६ ततःप्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ।

तब (पुरुष ज्ञान से) प्रातिभज्ञान, दिव्यश्रवण, दिव्यदर्शन, दिव्यस्पर्श, दिव्य आस्वाद, और दिव्य घ्राण का अनुभव होता है।

विशेष :—ये सिद्धियां चित्त के चिति में लय होने पर स्वयमेव उद्भूत होती हैं। सूत्र का 'जायन्ते' शब्द इस बात का द्योतक है। ये सिद्धियां पैदा नहीं की जा सकतीं। सिद्धियां कर्तृत्व के आधीन नहीं हैं। चिति की समग्रता में अन्तःप्रवेश होने पर समग्र सत्ता की समग्र शक्तियां, चित् और चित्त की अभिन्नता से चित् की ही शक्तियां होती हैं और किसी-किसी समाधिस्थ चित्त वाले व्यक्ति में, समग्र शक्तियों में से किसी-किसी शक्ति—सिद्धि—का प्राकट्य भी सहज ही देखने में आता है।

३७ ते समाधावुपसर्गाव्युत्थाने सिद्धयाः ।

उपर्युक्त सिद्धियां समाधि में विघ्न हैं तथा व्युत्थान दशा में सिद्धियां हैं।

विशेष—ये सिद्धियां समाधिस्थ योगारूढ़ व्यक्तियों के पतन का कारण भी हो सकती हैं। इसलिए समाधि दशा में ये विघ्न हैं।

देखा गया है कि बचपन में किसी व्यक्ति में चमत्कारिक शक्ति देखी जाती थी, वयस्क होने पर जब उससे पूछा गया कि क्या अब भी उसमें वह शक्ति है तो पश्चात्ताप के साथ उसके उद्गार निकलते हैं "क्या बतलाऊ जबसे मैंने जाना कि कुछ कर सकता हूं, मैं कुछ नहीं कर सकता।" एक सत्य कथा है।

३८ बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।

शरीर के बन्धकारण—इच्छाशक्ति—की शिथिलता तथा बहिर्गमन के ज्ञान से, चित्त का दूसरे शरीर में प्रवेश होता है।

विशेष—मेस्मिरिज्म के खेलों में पर-शरीरावेश का खेल देखने को मिलता ही है। यह अभ्यास की दृढ़ता का परिणाम होता है।

३९ उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।

उदानप्राण के जय होने से जल, कीचड़, कांटों से असंगता और उन्हें पारकर जाने की शक्ति प्राप्त होती है।

विशेष :—बतासों पर तथा तलवार के धारों पर नृत्य करते नर्तक देखे ही जाते हैं।

४० समानजयाज्ज्वलनम्।

समान प्राण के जय होने से दीप्ति प्राप्ति होती है।

४१ श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।

श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम होने से दिव्य श्रवण शक्ति प्राप्त होती है।

४२ कायाकाशयोः संबन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।

शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम होने से तथा हल्के रूई में (चित्त के) समाहित होने से आकाश गमन की सिद्धि प्राप्त होती है।

विशेष :—इस टीकाकार ने एक खेल देखा था जिसमें एक दस हाथ की धोती छः आदमियों ने तान रखी थी। खेल का प्रदर्शक दौड़ते हुए आया और दौड़ते

हुए ही उस धोती को बिना पैर से छुये, ऊपर ही ऊपर उस धोती को पार कर गया। यह आकाश गमन कहा जा सकता है।

४३ बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।

अकल्पित (स्वाभाविक) बहिर्वृत्ति महाविदेहा (वृत्ति) होती है। उससे प्रकाश आवरण (सापेक्षज्ञान) का क्षय होता है—ज्ञान का आवरण दूर होता है।

विशेष :—सूत्र २—५२ देखें।

वृत्तियां, सब कल्पित और बहिर्मुखी होती हैं। बहिर्मुखता में, परायों से सुनकर— पराई आंखों से देखकर—मैं, तू, वह; यह, वह, सब; रूपी द्वैत बुद्धि—सापेक्षज्ञान—प्रकाशावरण—का निर्माण होता है। यही 'श्रोतव्यश्चश्रुतस्यच' रूप गीतोक्त 'महकलिल' है। यह ही बहिर्मुखी कल्पित द्वैतदर्शन है जो सब दुःखों का कारण है।

जब वृत्ति निरोध हो अन्तर्मुखता प्राप्त होती है, तब समाधि में निर्विकल्प द्वैतविहीन दशा प्राप्त होती है। यह दशा ही विदेह दशा है। (देखें सूत्र १—१७ तथा १--१९) जब अन्तर्मुखता से पुनः बहिर्मुखता प्राप्त होती है, तब वह अन्तर्मुखी अनुभूतियों को लिए हुए होती है। यह निर्विकल्प द्वैतविहीन अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन की स्थिति है। यही 'बहिरकल्पता वृत्तिर्महाविदेहा' की स्थिति है। विदेह दशा में सीमित व्यष्टिरूपी देह का भान मिटा हुआ रहता है, महाविदेहा दशा में समष्टिगत देहों का भान मिटकर, एक चेतन सत्ता के ही अस्तित्व का भान रहता है। समूल द्वैतभाव के मिट जाने से, द्वैत बुद्धिजन्य सापेक्षज्ञान—'प्रकाशावरण'—का क्षय हो जाता है।

| | २—५२ में वर्णित स्थिति में— | ३—४३ में वर्णित स्थिति में— |
|---|---|---|
| १ | व्युत्थान होता है। | उपशम की दशा है। व्युत्थान नहीं होता। |
| २ | भाव अभाव के भावों का अभाव है। | भाव अभाव के भावों के अभाव का भाव है। |
| ३ | निर्विकल्प द्वैतविहीन अन्तर्मुखी दशा है। | निर्विकल्प द्वैतविहीन अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन की दशा है। |

४४ स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः ।

(महाभूतों) के स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व पर संयम से भूतजय प्राप्त होता है ।

विशेष :—अग्नि का स्वरूप है उसकी उष्णता । पहाड़, वृक्ष आदि पृथ्वी के अन्वय हैं । अर्थवत्त्व का भाव है उपयोगिता । भूतजय से भाव है उनके सम्यक् ज्ञान से अपने काम में उनका उपयोग करने की क्षमता प्राप्त होना ।

भूतजय के संबंध में महाभारत के निम्न श्लोक भी विचारणीय हैं :—

"नाहमात्मार्थमिच्छामि गन्धान्घ्राणगतानपि ।
तस्मान्मेनिर्जिता भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ।।
नाहमात्मर्थमिच्छामि रसानास्येऽपिवर्त्ततः ।
आपोमेनिर्जितस्तस्माद्वशे तिष्ठन्ति नित्यदा ।।
नाहमात्मार्थमिच्छामि रूपं ज्योतिश्चक्षुषः ।
तस्मान्मे निर्जिता ज्योतिर्वशे तिष्ठति नित्यदा ।।
नाहमात्मार्थमिच्छामि स्पर्शान् त्वचिगताश्चये ।
तस्मान्मेनिर्जितोवायुर्वशे तिष्ठति सर्वदा ।।
नाहमात्मार्थमिच्छामि शब्दान् श्रोत्रगतानपि ।
तस्मान्मे निर्जिता शब्दा वशे तिष्ठन्ति सर्वदा ।।
नाहमात्मार्थमिच्छामि मनोनित्यं मनोऽन्तरे ।
मनोमेनिर्जितं तस्माद्वशे तिष्ठति सर्वदा ।।

४५ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च ।

तब (भूतजय होने पर) अणिमादि सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता, काय सम्पत्ति प्राप्त होती तथा भूतों के धर्मों की बाधा दूर होती है ।

विशेष :—अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व तथा ईशित्व नामी अष्ट सिद्धियों का बहुत विशद वर्णन भाष्यकार, टीकाकार तथा वार्तिककारों ने किया है । वे वर्णन जिस रूप से किये गये हैं, स्वीकार्य नहीं हो सकते । उस संबंध में जो उदाहरण दिये गये हैं (जैसे हनुमान जी का मशक रूप या सुरसा के मुख से द्विगुणित रूप धारण कर लेना) वे संबंधित कथानकों को लौकिक इतिहास मानकर किये गये हैं जबकि वे अलौकिक गाथायें स्वसंवेदनशीलता से ही ग्राह्य हो सकती हैं ।

भूतजय से ये सिद्धियां मानव ने प्राप्त ही कर ली हैं । आज आकाश कृत्रिम उपग्रहों से आच्छादित हैं, वायुयान उड़ते ही हैं, अग्नि में प्रवेश कर सकतों और वस्तुओं को बचाने की क्षमता अर्जित की ही जा चुकी है,

जलयान चलते ही हैं तथा पृथ्वी पर रेलों और सड़कों का जाल बिछा ही हुआ है। यह सब भूतों के धर्मों की बाधा दूर होने पर ही हुआ है। इस प्रकार आठों प्रकार की सिद्धियां मानव ने भूतजय द्वारा प्राप्त कर ही ली है। काय संपत्ति के संबंध में अगला सूत्र देखें। यह भूतजय संयम द्वारा ही प्राप्त हुआ है।

४६ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्।

रूप, लावण्य, बल, बज्र सी दृढ़ता शरीर की संपदा है।

विशेष :—सूत्र ४५ के अनुसार यह काय-सम्पत्ति भी भूतजय से प्राप्त होती है। भूतों के उचित उपयोग से उपरोक्त काय-सम्पत्ति प्राप्त की ही जा सकती है।

४७ ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, तथा अर्थवत्त्व में संयम से इन्द्रिय जय होता है।

विशेष :—ग्रहण से भाव है विषयों से, स्वरूप से भाव है इन्द्रियों के गुणों से, अर्थवत्त्व से भाव है इन्द्रियों के प्रयोजनत्व से, इन पर तथा अस्मिता पर संयम से इन्द्रियजय होता है।

४८ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।

तब (इन्द्रिय जय से) मन के समान वेग, इन्द्रियों की अनावश्यकता की प्रतीति, तथा प्रकृति जय प्राप्त होता है।

विशेष :—प्रकृति त्रिगुणात्मक है। प्रकृति जय से भाव है त्रिगुणातीत होना।

४९ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

चित्त और पुरुष के भेद का ज्ञान जिसे है, उसे सब भावों की मालिकी तथा सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

विशेष :—चित्त और पुरुष के भेद के लिए देखें समाधिपाद सूत्र २ का वि०वि०। भाव सब त्रिगुणात्मक हैं। त्रिगुणातीत होना ही विवेक ख्याति है। उस विवेक ज्ञान में ही चित्त और पुरुष के भेद (अभेद) का ज्ञान प्राप्त होता है। वही सब भावों की मालिकी तथा सर्वज्ञता है, जिसे जान लेने के बाद कुछ जानना शेष नहीं रहता।

५० तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ।

उससे (विवेक ख्याति से) भी वैराग्य होने पर तथा दोषों के बीज (क्लेशों) के क्षय होने पर कैवल्य की प्राप्ति होती है ।

विशेष :—विवेक ख्याति में ज्ञातापने का भाव बना रहता है । यह भाव जब मिट जाय वही विवेक ख्याति से वैराग्य है । दोषों के बीज के क्षय से भाव हैं क्लेशों के मिटने का—अविद्या के भी मिट जाने का । यही चित्त का चिति के साथ चित् में विलय है — कैवल्य है -- केवल चित् के सत्ता का अनुभव, जो अनुभव विहीन है ।

५१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।

स्थानीय लोगों के आदर भाव से लगाव और (अपनी स्थिति का) घमंड नहीं करना चाहिए । (ताकि) अनिष्ट का प्रसंग पुनः न उपस्थित हो जाय ।

विशेष :—मान प्रतिष्ठा से बचने का सुझाव है । मान प्रतिष्ठा से योग भ्रष्ट होने की संभावना रहती ही है ।

५२ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ।

क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेक ज्ञान प्राप्त होता है ।

विशेष :— बीता क्षण भूत हो चुका, आनेवाला क्षण भविष्य होगा । तो वर्तमान क्षण अनस्तित्ववान है । भूत वर्तमान हुए बिना भूत हो नहीं सकता । भविष्य को भी वर्तमान होना ही पड़ेगा । अतः अस्तित्ववान है तो केवल वर्तमान ही । इन दो विरोधों के समन्वय में शाश्वत क्षण का ही अस्तित्व है । इस शाश्वत वर्तमान में ही सब व्यवहार हो रहा है, भूत, वर्तमान, भविष्य की कल्पनाओं के साथ । इन व्यावहारिक कल्पनाओं या विकल्पों को जान लेना तथा शाश्वत क्षण की अनुभूति विवेकज्ञान का उदय है ।

५३ जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।

जाति, लक्षण, या देश से भेद का निश्चय न हो सकने से तुल्य सी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का विवेकजज्ञान से निश्चय होता है ।

विशेष :— विवेकज ज्ञान=प्रातिभज्ञान

=औत्पत्तिक मनीषा=सहजज्ञान=Intuition

सत्त्व ( चित्त ) और पुरुष एक ही जाति के, सूक्ष्म, एक ही लक्षण प्रशान्तवाहिता, तथा एक ही देश के तथा विभु हैं। उनका निश्चय विवेकजः (विवेक ख्याति) से ही होता है।

५४ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

सब प्रकार से, सब विषयों को, बिना क्रम के, विषय करने वा तथा (सब शंकाओं से) तारने वाला ज्ञान, विवेकज ज्ञान होता है।

विशेष :— तारक=शंकाओं से पार कराने वाला।

५५ सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

चित्त और पुरुष के शुद्धि में साम्य होने से कैवल्य होता है।

विशेष :— पुरुष ( चित् ) तो सर्वथा शुद्ध है। चित्त में मान्यताओं विकल्पों–विक्षेपों—वृत्तियों–का मल रहता है। वृत्ति निरोध होने पर—असंप्रज्ञ समाधि में— चित्त का चिति के साथ चित् में एकाकारिता या विलय कैवल्य है।

कैवल्य ही परमार्थ है–मोक्ष है, जिसका अर्थ है दुख की आत्यंतिक निवृत्ति परमार्थ या कैवल्य प्राप्ति हेतु, विभूतियों की—ऐश्वर्य की—अपेक्षा नहीं रहती अलौकिक ऐश्वर्य—विभूतियों –से दुःख की आत्यांतिक निवृत्ति नहीं होती। जीव अपने 'चेतन अमल सहज सुखराशी' स्वरूप के प्राप्त होने पर ही दुःख की आत्यांतिक निवृत्ति संभव है। द्रष्टा दृश्य का संयोग जो दुख का कारण है (सूत्र २—१ भिन्नता की कल्पना में है। चित्त, चिति और चित् की अभिन्नता की अनुभूति ही कैवल्य अथवा परमार्थ है। इस अभिन्नानुभूति में ही दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति है—द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का अभाव हो जाने के कारण।

# कैवल्यपाद

समाधिपाद में योग सिद्धि के जो उपाय --'श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञा' बतलाया गया, उसे विहंगम मार्ग कहा जा सकता है। वह समाहित चित्त वालों के लिये है। सामान्य विक्षिप्त चित्तवालों के लिए, योगाङ्गानुष्ठान के आठ अंगों वाला 'पिपीलिका मार्ग' का वर्णन साधनपाद तथा विभूतिपाद में बतलाया गया है। साधकों को इस योगानुष्ठान में रुचि बनाये रखने के लिए सब संभव विभूतियों का—चमत्कारों का—भी विशद वर्णन किया गया है। अब चौथे पाद में योग का फल —कैवल्य—प्राप्ति का वर्णन किया जाता है, साथ ही दर्शन के सिद्धांत की भी व्याख्या की गई है।

१ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाःसिद्धयः।

सिद्धियां, जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि से पैदा होती हैं।

विशेष :— विभूतिपाद में विभूतियों का—सिद्धियों का प्रलोभन दे, अब बतलाया जा रहा है कि सिद्धियां अन्य उपायों से भी प्राप्त हो सकती हैं।

२ जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।

( सिद्धियों के कारण ) जो बदलाव आता है वह (प्रकृति के सब गुणों से लबालब भरे होने से) प्रकृति द्वारा पूर्ति होने से होता है।

विशेष :— भाव है कि जन्म मन्त्रादि साधन निमित्त मात्र हैं।

३ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।

वे साधन (सिद्धियां प्राप्ति हेतु) प्रकृति के प्रेरक नहीं हैं। उनके द्वारा केवल बाधा दूर होती हैं जैसे किसान द्वारा मेड़ काटकर चारों तरफ के पानी को खेत में आने दिया जाता है।

विशेष :— भाव है कि उन निमित्तों से सिद्धियों की प्राप्ति अवश्यंभावी नहीं हैं।

४ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।

मात्र अस्मिता चित्तों के निर्माण का कारण है ।

विशेष :— इस सूत्र का चमत्कारिक अर्थ किया गया है कि योगी अप अस्मिता से चित्तों का और शरीरों का निर्माण करता है। सहज अर्थ ही ग्राह्य

५ प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।

प्रवृत्ति भेद से एक चित्त अनेक चित्तों का प्रयोजक होता है ।

विशेष :— चित्त विभु है अतः अनेक चित्तों का प्रयोजक होना उसके लि संभव ही है ।

६ तत्र ध्यानजमनाशयम् ।

उनमें से ध्यान से उत्पन्न चित्त वासना रहित होता है ।

विशेष :— वासना रहित होने से ध्यानज चित्त का प्रयोजक अन्य चि नहीं हो सकता ।

७ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

योगियों के कर्म पाप पुण्य रहित होते हैं जबकि दूसरों के कर्म, पाप, पु या मिश्रित रूप होते हैं ।

विशेष :— इस भेद का कारण कर्तृत्व भावना है । योगी के कर्तृत्वाहंक विहीन होने से उसके द्वारा हुए कर्म न पाप होते न पुण्य । अन्य जन के कर्तृत्वाहंकारवशात् पाप, पुण्य और मिश्रित रूप होते हैं ।

८ ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ।

उन कर्मों के फलानुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है ।

९ जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।

स्मृति और संस्कार की एक रूपता के कारण जन्म, देश तथा काल द्वा व्यवधान होने पर भी, (वासनाओं को) व्यवधान नहीं होता ।

विशेष :— संस्कार चाहे जितने पुराने हों, चाहे जितने जन्म, देश तथा का का अन्तर हो, वासनायें अवसर पा उठ खड़ी होती हैं ।

१० तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।

आशिष के नित्य होने से वासनायें अनादि हैं ।

विशेष:— आशिष से भाव है आत्माशिष से, हर प्राणी सतत चाहता है कि मैं रहूं—मेरा अभाव कभी न हो । यही आशिष है ।

११ हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन से संगृहीत होने के कारण, उनके अभाव में उसका (वासना का) भी अभाव हो जाता है ।

विशेष :—हेतु अविद्यादिक्लेशजन्यकर्म है,

फल, जाति, आयु, वा भोग है,

आश्रय — चित्त है,

आलम्बन, विषय हैं ।

इनमें से एक के भी अभाव के कारण चारों का अभाव हो जाता है ।

१२ अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।

( वासना ) स्वरूप से अतीत अनागत है उसके धर्मों का भेद काल से होता है ।

विशेष:— सूत्र १० में वासना को अनादि कहा गया है । सूत्र ११ में उसका अभाव बतलाया गया है । उसी का समन्वय किया जा रहा है इस सूत्र में कि स्वरूपत: वासना अतीत अनागत है । उसका नितान्त अभाव, खरगोश के सींग सदृश्य, नितान्त असत्, नहीं होता । अर्थात् वह (वासना) अनादि पर सान्त है ।

धर्म की व्याख्या अगले सूत्र में की गई है ?

१३ ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।

( वासना के ) वे ( धर्म ) प्रकट वा सूक्ष्म गुण स्वरूप हैं ।

विशेष :— प्रकट से भाव है वर्तमान,

सूक्ष्म से भाव हैं अतीत अनागत ।

धर्म से भाव है गुणों के परिणाम से ।

१४ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।

( तीनों गुणों का) परिणाम एक होने से वस्तु भी (एक है) । यही का तत्त्व है ।

विशेष :—तीन गुणों, सत्, रज, तम् के मेल का परिणाम है—एक व परिणाम सदा एक ही होता है चाहे तीनों गुणों का मेल अलग २ अंशों में हो । परिणाम से एक ही वस्तु बनेगी । यह वस्तुप्रकृति—चिति का तत्व हैं । सिद्ध होता है कि वस्तु सब त्रिगुणात्मक हैं । त्रिगुणात्मक प्रकृति—प्रधान—चिति एक ही है जिससे भिन्न—वस्तुयें बनती हैं । सब वस्तुयें प्रधान के ही रूप हैं ।

१५ वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तःपन्थाः

वस्तु साम्य होते हुए भी चित्त के भेद के कारण वस्तु और चित्त के अलग हैं ।

विशेष :—चित्त की भिन्नता के कारण, एक ही वस्तु का अलग चित्तों में अलग-२ अनुभव होता है ।

१६ न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।

वस्तु एक चित्त के अधीन नहीं है । जब वह (वस्तु) चित्त का विषय न तो क्या होगा ? (क्या वह न रहेगी ?)

विशेष :—भाव है कि चित्त का विषय न होने पर भी वस्तु का—प्र प्रधान—चितिका—अस्तित्व रहता ही है ।

पुरुष और प्रकृति की भिन्नता तथा पुरुष के बहुत्व का प्रतिपादन चित्त द्रष्टा (पुरुष) का प्रतीक तथा वस्तु प्रकृति (प्रधान) का प्रतीक है ।

१७ तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाता-ज्ञातम् ।

चित्त को वस्तु के जानने न जानने में वस्तु का उपराग (प्रतिबिंब) अपे है ।

विशेष :—चित्त को वस्तु का ज्ञान वस्तु के प्रतिबिम्ब पड़ने पर होता चित्त के अस्मिता भाव के मिटने पर—चित्त का चिति में लय होने पर तथा चित् के चित् में विलय हो जाने पर — चिति के उपराग के अभाव में चिति चित्त विषय नहीं रह जाता ।

१८ सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

चित्त के स्वामी पुरुष के अपरिणामी होने से ( उसे ) चित्तवृत्तियां ज्ञात रहती है ।

विशेष :—यहां 'पुरुष' से भाव है, पुरुष विशेष—ईश्वर—चित्—से।

१९ न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।

वह (चित्त) दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं है।

विशेष :—पुरुष विशेष—ईश्वर—चित्—स्वप्रकाश है। उसकी मतिमत्ता—चिति—प्रकृति—प्रधान—का प्रतिबिंब चित्त पर पड़ने से वह द्रष्टा सा दीखता है—स्वयं द्रष्टा न होने पर भी।

२० एकसमये चोभयानवधारणम्।

एक ही समय में (चित्त का अपना और विषय का) दोनों ज्ञान नहीं हो सकता।

विशेष :— उपरोक्त सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

२१ चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च।

चित्त को अन्तर चित्त द्वारा दृश्य मानने से, बुद्धि के अन्दर बुद्धि कहने सदृश अतिप्रसंङ्ग दोष पैदा होगा, साथ ही स्मृति में भी गड़बड़ी पैदा होगी।

२२ चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।

क्रिया और परिणामों से रहित होने पर चिति को, (चित्त में प्रतिबिंबित होने पर) तदाकारिता की प्राप्ति होती है (जिससे) स्वबुद्धिसंवेदन होता है।

विशेष :—चित्त जड़ है। उसमें चिति के प्रतिबिंबित होने पर, चित्त से चिदाकारिता के कारण, उसे बुद्धिवृत्ति सहित बुद्धि का भान—स्वबुद्धि संवेदन—होता है अर्थात् द्रष्टा वा ज्ञातापने का आरोपण होता है। चित् के केवल ज्ञानस्वरूप होते हुए भी उसमें कर्तापने या ज्ञातापने का आरोपण हो ही जाता है।

२३ द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।

द्रष्टा और द्रश्य से रंगा हुआ चित्त सारे व्यवहारों वाला होता है।

विशेष :—चित्त में सब त्रिपुटी समाई रहती है द्रष्टा और दृश्य दोनों का प्रतिबिंब उसमें पड़ने से वह द्रष्टा, द्रश्य, दर्शन रूप भी प्रतीत होता है। बहिर्मुखता में वह विषयाकार होता, वही चित्त अन्तर्मुखता में आत्माकार होता है।

२४ तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।

असंख्य वासनाओं से चित्रित होते हुए भी, चित्त अनेक मेल से बना हुआ होने से, दूसरे (पुरुष) के प्रयोजन के लिए है ।

विशेष :—मेल से बनी हुई वस्तुयें, घर, शय्या आदि दूसरे के ही उपयोग के लिए होती हैं ।

२५ विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।

जिसे विशेष दर्शन हो चुका है उसके आत्मभावना की निवृति हो जाती है

विशेष :—विशेष दर्शन से भाव है आत्म–साक्षात्कार से—स्वरूप ज्ञान से इस स्थिति में आत्मा संबंधी प्रश्न कि मैं कौन हूं ? कहां से आया ? इत्यादि मिट जाते हैं इस स्थिति का वर्णन किया गया है :

'भले भयो हरि बीसरे" सदृश उद्गारों से ।

२६ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।

तब (विशेष दर्शन होने पर) चित्त विवेक—मार्गानुसारी हो कैवल्याभिमुख हो जाता है ।

विशेष :—चित्त जो अज्ञान के कारण, बहिर्मुखता में संसारी विषयों फंसा हुआ था, विशेष दर्शन—आत्म साक्षात्कार—होने पर, विवेक ज्ञान से उस प्रवृत्ति कैवल्य की ओर हो जाती है ।

२७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।

उस (विवेक ज्ञान) के मार्ग में बीच-बीच में, संस्कारवशात् अन्य वृत्तियां उठती रहती हैं ।

विशेष :—ये व्युत्थान की वृत्तियां कषाय कहलाती हैं । कैवल्य प्राप्ति कषाय वृत्तियों का आविर्भाव होता रहता है ।

२८ हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।

इनसे बचने का उपाय क्लेशों से बचने के उपाय सदृश ही कहा गया है ।

विशेष :—क्लेशों की निवृत्ति का उपाय सूत्र २ – ११ में, ध्यान बतलाया गया है।

२९ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।

प्रसंख्यान (तत्त्वविवेचन) से भी जो विरक्त हो गया हो उसे निरंतर विवेक ख्याति (विवेक ज्ञान) के उदय रहने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है।

विशेष:—अकुसीद=ब्याज न लेने वाला=फल न चाहने वाला=निष्काम =विरक्त। धर्ममेघ से भाव है धर्म की वर्षा करने वाला। इस स्थिति-प्राप्त पुरुष से जो भी होगा वह धर्म कार्य ही होगा। प्रसंख्यान से भी विरक्त होने का भाव है :—

"जाहि न चाहिय कबहुं कछु"

३० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।

तब क्लेशों की तथा कर्मों की निवृत्ति हो जाती है।

विशेष :—क्लेशों और कर्मों के निवृत्ति होने पर ऐसा योगी जीवन रहते ही जीवन मुक्त हो जाता है। 'तस्य कार्यं न विद्यते।'

३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।

तब (क्लेश कर्म की निवृत्ति पर) सब आवरण रूपी मल का त्याग हो जाने पर जो ज्ञान प्रकाशित होता है(उस) ज्ञान की अनन्तता से जानने के लिए शेष अल्प रह जाता है।

विशेष :—इसे ऐसा भी कहते हैं कि "उसे जान लेने पर कुछ जानना शेष नहीं रहता।"

३२ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।

तब कृतार्थ हुए गुणों का परिणामक्रम समाप्त हो जाता है।

विशेष :—त्रिगुणातीत पद, चिति का चित् में लय होना, निर्दशित है।

३३ क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य क्रमः।

परिणाम की समाप्ति पर, निर्ग्राह्य (जो ग्रहण नहीं होता) ऐसा क्षण प्रतियोगी (प्रतिक्षण होने वाला) क्रम (बना रहता है)।

विशेष :—क्षण प्रतियोगी क्रम से भात है अविरल क्रम जो प्रवाह रूप है। यही शाश्वत क्षण है।

भाव है :—धर्म परिणाम होते रहते हैं पर स्वरूपस्थिति बनी रहती है।

३४ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।

पुरुष के लिए जिनका प्रयोजन शून्य—निःशेष—हो गया है, ऐसे गुणों का अपने कारण (चित्) में लीन होना अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप (चित्) में में स्थित हो जाना कैवल्य है।

# परिशिष्ट

## कुण्डलिनी योग
(स्वसंवेदनशीलता के आधार पर)

बहिर्मुखी बुद्धि हैः—

"माया खलु नर्तकी बिचारी"

और अन्तर्मुखी बुद्धि है भक्ति

जिसके संबंध में कहा गया है :—

"पुनि रघुबीरहहिं भगति पियारी"

"यह रहस्य रघुनाथ कर,

बेगि न जानै कोय

अरु जो जानै रघुपति कृपा,

सपनेहु मोह न होय ॥"

# कुण्डलिनी योग
## (स्वसंवेदन शीलता से)

परमतत्व
(परमशिव)

अस्तित्व का भान तथा बुद्धि की बहिर्मुखी कल्पना का आरंभ

सहस्त्रार

कमलनाल

भंवरगुफा

आज्ञा

प्रथम कल्पना "मैं" शिव तत्त्व

'मैं हूं' शक्ति तत्त्व

'मैं हूं यह' सदाशिवतत्त्व

'मैं यह हूं' ईश्वरतत्त्व

'यह मैं हूं' शुद्ध विद्यातत्व

'यह मैं इस काल में हूं'

'यह मैं इस देश में हूं'

'यह मैं इसका ज्ञाता हूं'

'यह मैं इसका द्रष्टा हूं'

'यह मैं इसका भोक्ता हूं'

'यह मैं इसका कर्त्ता हूं'

बुद्धि

विशुद्ध

अनहद

मणिपूरक

स्वाधिष्ठान

मूलाधार

इड़ा

सुषुम्ना

पिंगला

कुण्डलिनी

अवरोहण में कल्पित ज्ञाताभिमुखी बहिर्दर्शन

आरोहण में निर्विकल्प द्रष्टाभिमुखी अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन
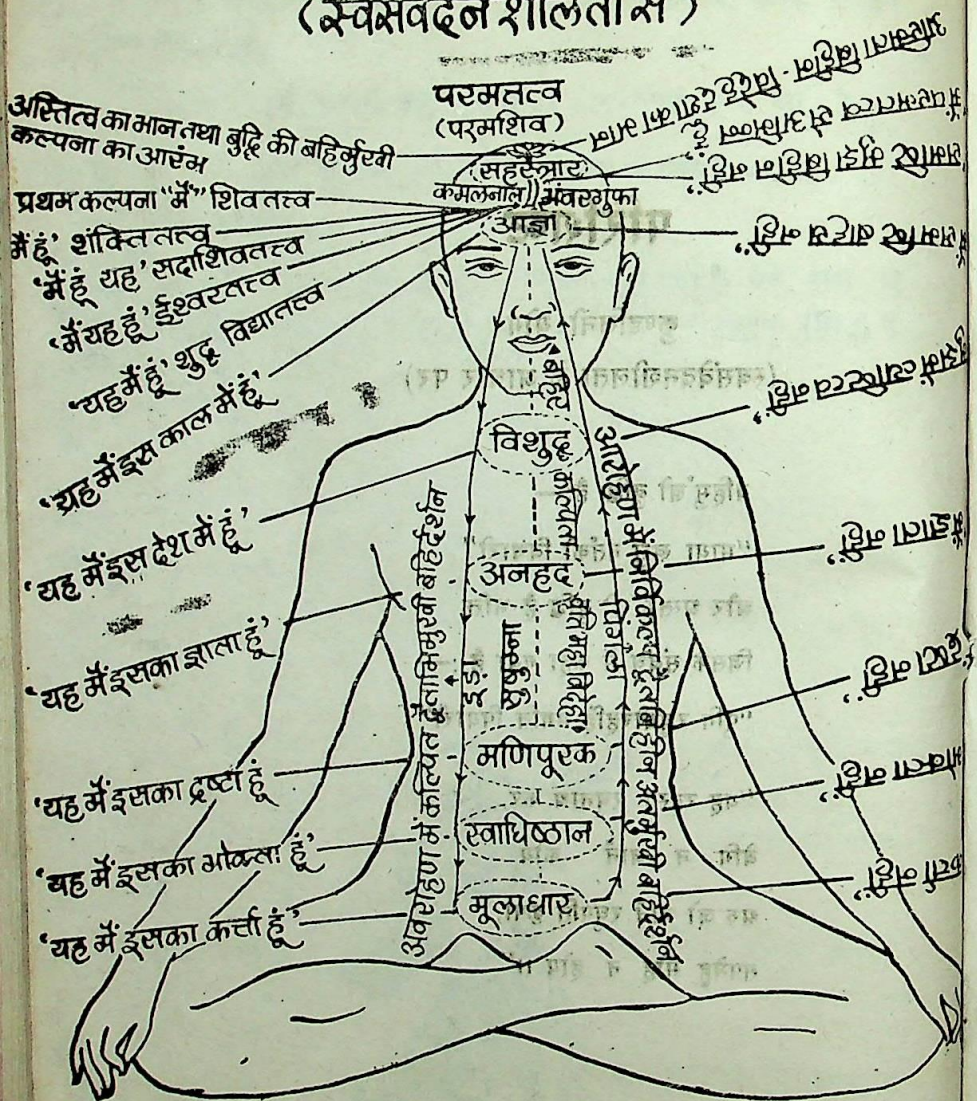
कर्त्ता हूं की भावना के साथ ही बुद्धि कुंठित हो जाती है, यही उसका कुंडलिनी मार लेना है। कर्तृत्व से निराश हो जब बुद्धि विचार करती है, यही उसका प्रेरित हो ऊर्ध्वगति में आरोहण करना है। ऊर्ध्वगति में वह निश्चय करती है कि:—

---

"कहौं प्रतीति प्रीति रुचि अपनी"
और कहौं सब निज नयनन देखी ॥

बृजराजसिंह

# कुण्डलिनी योग—स्वसंवेदनशीलता से

कुण्डलिनी योग के सम्बन्ध में, भिन्न भिन्न ग्रन्थों में, कुण्डलिनी जागरण हेतु, आसनों, प्राणायाम, बन्धों, मुद्राओं तथा ध्यान रूपी विविध प्रयासों अथवा उपायों का वर्णन मिलता है। सब ग्रन्थ क्रियत्व का उपदेश देते, साथ ही अतीन्द्रिय शक्तियों-ऋद्धि-सिद्धि—का लोभ भी। उस लोभवशात् विभिन्न क्रियायें करते हुए, कभी-कभार किसी साधक का, घुणाक्षर न्यायवत्, अचेतन मन में जब प्रवेश होता है तो अनन्त प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। उन अनुभूतियोंवशात् उसका अहंकार पुष्ट होता और वह स्थूल विषयों से मन हटाकर सूक्ष्म विषयों को अपना विषय बना लेता है। अतीन्द्रिय शक्तियों की अनुभूति अध्यात्म नहीं है। वह तो केवल शक्तियों का विकास हैं। अन्तिम ध्येय नहीं है।

भारत के अन्तर्मुखी खोजियों ने अपने रचे हुए ग्रन्थों में—कुण्डलिनी योग सम्बन्धित ग्रन्थों में भी—अन्तर्मुखता ही सुझाया है। शिव का अवरोहण हो मूलाधार में शक्ति से मिलन उसकी बहिर्मुखी प्रक्रिया का वर्णन है, जबकि शक्ति का शिव से मिलन में अन्तर्मुखी प्रक्रिया दर्शायी गयी हैं। बहिर्मुखता में व्यक्ति संसार में फंसता है, वही अन्तर्मुखता में संसार विमुख हो स्वयं को प्राप्त करता है। बहिर्मुखता में कल्पनाओं द्वारा ही वह स्वयं सांसारिक चक्करों (चक्रों) में रेशम कीटवत् फंसता है। अन्तर्मुखी प्रक्रिया द्वारा वह उन चक्करों को काट—चक्रों को भेद—अपने को मुक्त मानता है। वस्तुतः न वह फंसता है न छूटता है। केवल ऐसा मानता है। ऐसा मानना उसकी लीला मात्र हैं।

अनुभवी द्रष्टाओं के रचे हुये ग्रन्थों में क्रियत्व और कर्तृत्व को जो महत्व दिया गया है, वह केवल इसलिए कि कर्तृत्व भावना इतनी जबरदस्त है कि उसका छूटना जल्दी सम्भव ही नहीं है। जीवन का मूल आधार ही कर्तृत्व है। पूर्व कर्तृत्व वशात् नव कर्तृत्व हेतु ही जीवन प्राप्त हुआ है। अतः करो, करो यह उपदेश है थकाने के लिए। जब 'सकल कर्म करि' थाक जाय तो निर्वेद स्थिति प्राप्त होती है, किम्कर्त्तव्य विमूढ़ता वाली विषाद की स्थिति, जहां रहता है निबिड़ अंधकार जब तन की धरती का सहारा छूट जाता है, मन के पंख—विचार और भावना के—झर जाते हैं; सर्वांगीण निराधारता, निर्बलता का अनुभव होने लगता है। यह अवस्था

पल भर की है—"छिनकु छाक उछकै न फिर'। इसी स्थल में गुरु—कृपा की आवश्यकता है। उसकी कृपा बिना अन्तर्मुखी साधक भी फिर मूलाधार पर आ टिकता हैं। अनुभव का विषय है। साहस की आवश्कता है। धैर्य आवश्यक है। अंधकार से निकले कि आत्म सूर्य की किरणों के स्पर्श से सहस्त्रार प्रस्फुटित हो जाता, दशम द्वार के पट खुल जाते और जीव अपना व्यष्टित्व खो समष्टित्व से 'लपटानि' प्राप्त करता और निर्विकल्प, द्वैतविहीन अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन में समग्रता में कर्मारूढ़-योगारूढ़—हो, प्रवाहरूप प्रवाहित होता रहता है।

इसी में निहित है कि, कर्म करते—करते जब थक जाय तब ही यह ज्ञान होता है कि कर्तृत्व मुझमें नहीं है, वस्तुतः मेरा व्यष्टित्व हो नही हैं और व्यष्टि समष्टि नामों के परे जीवनी सत्ता प्रवाहित है जहां न जन्म है न मृत्यु। यही समन्वय है इस प्रश्न और उत्तर का कि :—

"अमृतत्वम् कर्मणा केचित् मृत्युर्नास्तीति चापरे"

जिसका उत्तर है 'उभे सत्ये मा विशंकीथाः"

इसी स्थल पर यह जानते ही कि व्यष्टित्व मेरा या किसी अन्य का भी नहीं है, गुरु शिष्य में अभेद स्थापित हो जाता है। उस अभेदानुभूति में आत्म कृपा गुरु कृपा हो जाती है। उस कृपा के क्षण में जो भी माध्यम उपस्थित रहता है उसके प्रति प्रणिपात हो सद्गुरु का आविर्भाव हो जाता है। 'अन्य' भाव में शरीरधारी व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता पर अभेद स्थिति में शरीरधारी व्यक्ति ही गुरु होता है। कैसा विरोधाभास है। अनुभव की वस्तु है। इसके समन्वय पर ही गुरुपद की यथार्थानुभूति है। गुरुकृपा ही कुण्डलिनी जागृति में हेतु है। गुरु वही है जो कह सके-

"न मया क्रियते शिष्यः कृतः शिष्यो न कश्चन।

शिष्यतामिच्छते सद्यो दीयते गुरुता मया"॥

( २ )

यह निर्विवाद है कि सृष्टि के आविर्भाव से ही जीव आनन्द के अन्वेषण में लगा हुआ है। यह खोज बहिर्मुखी तथा अन्तर्मुखी, तब से ही चालू है, सृष्टि तथा जीव के आविर्भाव के काल की खोज भी इसी हेतु हो रही है कि उस दुःख का आदि कारण ढूंढ़ निकाला जाय, जिसे दूर करने के लिये आनन्द की खोज जारी है, ताकि कारण मिलने पर उपाय भी ढूंढ़ा जा सके।

इस काल का आधुनिक विज्ञान-सम्मत निर्णय संभव न हो, तो भी ईश्वर जीव तथा सृष्टि के संबंध के काल्पनिक विचारों पर नाना धर्म व संप्रदायों का

गठन होता आया है और हो रहा है। बहिर्मुखी खोजियों की खोज चालू है और स्यात् सतत चालू ही रहेगी, पर अन्तर्मुखी खोजियों ने उस उपाय को खोज निकाला है। धर्म, संप्रदाय, देश, काल, रंग व जाति के बंधनों से रहित इन अन्तर्मुखी खोजियों का यह निश्चित मत है कि सृष्टि वा जीव तथा उनका कल्पित संबंध अनादि है, जीव की बहिर्मुखतावशात् कल्पित द्वैत दर्शन ही उसके दुख का एकमात्र कारण है तथा निर्विकल्प द्वैतविहीन अन्तर्मुखी बहिर्दर्शन ही दुःखनिवारण वा आनन्द प्राप्ति का एकमात्र उपाय है।

जीवानारंभ की अभिन्न दशा में सन्मुख उपस्थित दृश्य के प्रतिक्रिया स्वरूप, अपने व्यष्टित्व की मान्यता के साथ, विभक्तानुभूति की मूक प्रक्रिया आरंभ हो जाती, साथ ही मूक प्रश्न उठ खड़े होते हैं कि यह जो दिख रहा है क्या है? उसे देखने वाला कौन है? यह जीवन क्या है? इस जीवन की तह में रहने वाली वस्तु किस प्रकार का पदार्थ है? इन प्रश्नों के उत्तर की अनुभूति भी मूक स्थिति में ही होती है, पर अभिव्यक्ति हेतु 'पर' से सुने हुए 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' 'सब' की भाषा गढ़ जाती है।

मूकानुभाव की अभिव्यक्ति हेतु, व्यष्टि अपने को 'मैं' मान अपने अस्तित्व की कल्पना कर अपने में ही कह उठता है 'मैं हूं'। फिर अपने अस्तित्व को उपस्थित दृश्य से अभिन्न मान, कल्पना करता है कि 'मैं हूं यह' (दृश्य)। महावाक्यानुरूप यह अभिव्यक्ति है 'तत्त्वमसि'। यह संबोधन अपने ही प्रति है।

अभिन्नता की तथा व्यापकता की अनुभूति में, 'तत्वमसि' की अभिव्यक्ति निर्दोष न लगने से मूक स्थिति में ही अनुभव करने पर, व्यष्टि कह उठता है 'मैं यह हूं'। 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप यह मूकाभिव्यक्ति भी भेदभावनापूर्ण ही प्रतीत होने से—दोनों अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में असंतोष होने से—मूकानुभव करते हुये कल्पना करता है 'यह (देह ही) मैं हूं''। असीम दृश्य में सीमा बांध ली गई। देह के अस्तित्व की मान्यता से भिन्न भावना-भेद भावना-पुष्ट होती और व्यष्टि अपने को देश काल की सीमा में बांध लेता है।

( ३ )

जीवन द्वारा, जीवन को देख, जीवन क्या है? तथा जीवन का उद्देश्य क्या है? यह जानने की इच्छा से, जो जीवनी शक्ति पैदा हुई, उसने ही विचार किया, कल्पना की, निश्चय किया इस 'इच्छा' तथा 'ज्ञान' की प्रतिक्रिया स्वरूप 'क्रिया' ने जन्म लिया और 'पर' द्वारा सुना हुआ 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' 'सब' रूपी संसार इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया का क्रीड़ांगन बन गया। व्यष्टि—चेतन रूप जीवन अपने को देश—काल की सीमा में बांध तथा 'संसार' की मान्यता स्वीकार कर अपने से भिन्न माने संसार रूपी दृश्य का, ज्ञाता, द्रष्टा, भोक्ता तथा अन्त में कर्त्ता मान बैठता है और अपने को कल्पित चक्करों (चक्रों) में उलझा लेता है।

कर्तापने की मान्यता के पश्चात् व्यष्टि चेतन की कल्पक शक्ति जो बुद्धि कहलाती है, कुण्ठित हो जाती और उसकी कल्पना संसार में 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' सब में क्रीड़ारत हो अपनी वास्तविकता को ही भूल जाती है।

( ४ )

जीवन क्या है तथा जीवन का उद्देश्य क्या है? यह एक शाश्वत तथा सार्वभौमिक प्रश्न है। भारत तथा भारतेतर देशों के द्रष्टाओं ने इस पर विचार किया है तथा उत्तर देने का प्रयास भी किया है। सब दर्शनों के मूल में यही एक प्रश्न है।

दर्शन की प्रतिक्रिया रूप दर्शन शास्त्रों की रचना हुई जो परस्पर विरोधी कल्पनाओं के विस्तार का कारण बना—भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर। विडम्बना यह हुई कि अभिन्नता को दर्शाने के उद्देश्य से परस्पर विरोधी भिन्न दर्शनों का जन्म हुआ। उनमें समन्वय हेतु भी प्रयास हुआ यहां तक कि "अमृतत्व कर्म से प्राप्त होता है या मृत्यु ही न होने से अमृतत्व प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता" इस प्रश्न का उत्तर दिया गया कि 'दोनों सत्य हैं इसमें शंका न करो" (महाभारत —सनत सुजातीय), कैसा विरोध परिहार है।

( ५ )

भारतीय द्रष्टाओं ने इस संबंध में जो भी साहित्य का निर्माण किया वह अन्तर्मुखी खोज का परिणाम है—जबकि भारतेतर दर्शन तथा विज्ञान में बहिर्मुखी खोज दिग्दर्शित है। भारतीय ग्रन्थ वेदों तथा शास्त्रों के अग्राह्य होने पर, न समझने योग्य हो जाने पर, पुराणों का निर्माण हुआ। वैदिक प्रस्थान त्रयी, ब्रह्म सूत्र, उपनिषद् तथा गीता का स्थान पौराणिक प्रस्थान त्रयी, रामायण महाभारत तथा श्रीमद्भागवत ने ले लिया। समय पा जब वे केवल कथानक माने जाने लगे तब उनका स्थान तन्त्रों ने लिया। पर इन सब परंपराओं में अन्तर्मुखी खोज ही वर्णित है और वे ग्राह्य हो सकते हैं केवल स्वसंवेदनशीलता से अपने भीतर ही देखने व समझने से। इन सब स्वसंवेदनशील ग्रन्थों की विशेषता है ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता तथा स्वात्मकता। अभिव्यक्ति हेतु जो शब्द उपयुक्त हुए उनका अर्थ ध्वनि तथा प्रतीकों के आधार पर अपने में ही देखने से समझ में आ सकता है। बहिर्मुखता में, परभाव में, वे ग्राह्य नहीं हो सकते।

तन्त्र शास्त्रों में कुण्डलिनी योग जो वर्णित है उसका ग्रहण भी बहिर्मुखता में अग्राह्य ही है। तन्त्रों पर बहुत खोज हुई। बहुत से सम्प्रदाय बन गये। 'कल्याण'

के योगांक व शक्ति अंक, "उडरफ के सरपेन्ट पावर" इत्यादि अनेक ग्रन्थों में कुण्डलिनी तथा सप्त चक्रों पर बहुत कुछ लिखा गया पर वे सब विवेचन बहिर्मुखी ही रहे।

तन्त्रों में, शरीर में स्थित चक्रों तथा कुण्डलिनी और उसके जाग्रत होने का जो वर्णन किया गया है उसमें अन्तर्मुखता का ही सुझाव दिया गया है। बहिर्मुखता में वे न देखे जा सकते न समझे जा सकते हैं। शक्तिपात् सम्प्रदाय का दावा कि शक्तिपात् द्वारा गुरु शिष्य की कुण्डलिनी जागृत कर सकता है, स्वीकार्य नहीं हो सकता। अन्य भाव में—परभाव में—गुरु शिष्य संबध स्थापित ही नहीं होता। व्यवहार में यह संबंध भले दिखे पर परमार्थत: गुरु शिष्य संबंध अभेद स्थिति में ही स्थापित हो सकता है। गुरुमहिमा इसी में निहित है, परभाव या अन्य भाव में नहीं।

( ६ )

प्रस्तुत विवेचन में यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि कुण्डलिनी योग स्वसंवेदनशीलता से ही ग्राह्य हो सकता है।

जीवन की जीवनी शक्ति मैं कर्ता हूं की कल्पना के बाद जब कुण्ठित हो जाती है—आगे विचार शक्ति जब नहीं रह जाती—वही उस शक्ति का कुण्डलिनी मारकर सो जाना है। यह शक्ति अपनी बुद्धि ही है जो अपने को "मैं", "मैं हूं", "मैं हूं यह", "मैं यह हूं", "यह मैं हूं", 'यह मैं इस देश या काल में हूं", "मैं ज्ञाता हूं", "मैं द्रष्टा हूं", "मैं भोक्ता हूं", तथा "मैं कर्ता हूं" मानकर उन अपने ही द्वारा बनाये हुए चक्करों (चक्रों) में फँस कुण्ठित हो जाती है। यही जीवन के मूलाधार—कर्तृत्व भावना—में जीवनी शक्ति का कुण्डलिनी मारकर स्थित हो जाना है। जीवन का मूल आधार कर्तृत्व ही है. जीवन पूर्व कर्मवशात् नव कर्म हेतु ही प्राप्त होता है। कर्म शरीर से ही होता और पार्थिव है, इसलिए मूलाधार को पृथ्वीतत्व माना गया है और मूलाधार की कल्पना पृथ्वीतत्व से उत्पन्न कर्मेन्द्रिय गुदा स्थान के पास मानी गई है।

गायत्री मन्त्र में प्रार्थना की गई है—"धियो यो न: प्रचोदयात्"—हमारी बुद्धि को प्रेरित करें। यह प्रार्थना मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी रूपा कुण्ठित बुद्धि को प्रेरित करने हेतु प्रार्थना है। बुद्धि का काम है विचार करना। विचार हेतु प्रेरित होने पर बुद्धि के सन्मुख जो विचार प्रस्तुत होता है वह है—क्या मैं सत्य में कर्ता हूं?

रेल का इन्जिन चालक चितरंजन में बने इन्जिन को, कोयले खदान के मजदूरों द्वारा खोदे, रेल द्वारा ढोये कोयले को अपने सहायक द्वारा जलाये जाने पर, नदी से पम्प द्वारा लाये पानी का भाफ बनने पर, इन्जिन को चलाता है। इस प्रकार विचार करने पर बरबस मानना पड़ता हैं कि मैं करने वाला नहीं हूँ—मेरे द्वारा कर्म होता सा दिखता अवश्य है पर उसे करने का हेतु समष्टिगत कारण है जिसके वशात् मुझे करना पड़ता है। यह विचार करना ही कुण्डलिनी का जाग्रत हो उर्ध्वमुख होना है।

मूलाधार स्थित बुद्धिरूपा कुण्डलिनी जाग्रत हो उर्ध्वमुखता में आगे विचार करती है। यही स्वाधिष्ठान चक्र में पहुंचना हैं। जीवन का अधिष्ठान सुख-दुख भोग है। यह भोग प्राप्त करना रस लेना है। अतः इस चक्र में जल तत्व की मान्यता है। स्वाधिष्ठान चक्र की कल्पना रीढ़ में जल तत्त्व के कर्मेन्द्रिय के स्थान पर की गई है। प्रेरित बुद्धि के सन्मुख अब विचार उपस्थित होता है कि यद्यपि मैं कर्ता नहीं हूँ, पर जीवन में सुख-दुख मुझे भोगना पड़ता है, अतएव मैं भोक्ता तो हूं ही। विचार आगे बढ़ता है कि भोग तो कर्म का परिणाम है। यदि कर्ता नहीं तो मैं उसका भोक्ता कैसे हो सकता हू? जिस प्रकार मुझे कर्म करना पड़ता है, यद्यपि मैं कर्ता नहीं, उसी के परिणाम स्वरूप मुझे सुख-दुख भोगना पड़ता है, यद्यपि वस्तुतः मैं भोक्ता नहीं हू। इस निष्कर्ष पर पहुंचना ही मेरी बुद्धिरूपा कुण्डलिनी द्वारा इस स्वाधिष्ठान चक्र का भेदन करना है।

अपनी उर्ध्वगति में विचार पैदा होता है कि मैं कर्ता और भोक्ता तो अवश्य नहीं हूँ पर अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व का द्रष्टा तो हूँ। विचार आगे बढ़ता है कि क्या मैं वास्तविकता में द्रष्टा हूँ? उत्तर में प्रतीत होता है कि द्रष्ट्रत्व का आरोपण तो दृश्य के पहले से ही उपस्थित रहने के कारण होता है। यदि दृश्य पूर्व से ही है और उससे आहत हो मैं अपने को द्रष्टा मानता हूँ तो वस्तुतः मुझमे द्रष्ट्रत्व भी नहीं है। इस निर्णय पर पहुंचते ही मणिपुर चक्र का भेदन हो कुण्डलिनी अपनी उर्ध्वगति पर अग्रेषित होती है। यह मणिपुर चक्र नाभि-स्थान पर कल्पित किया गया है, जहां अग्नि (जठराग्नि) सदैव प्रदीप्त रहती हैं। उससे सदैव प्रकाश पूरित रहने की कल्पना से उसे अग्नितत्व से निर्मित होने की कल्पना कर द्रष्टा भाव भी उसमें आरोपित किया गया है।

कुण्डलिनी रूपा बुद्धि आगे विचार करती है कि यद्यपि मैं कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं और द्रष्टा भी नहीं पर मैं अपने कर्तापने, भोक्तापने तथा द्रष्टापने का ज्ञाता तो हूं

और मुझे यह ज्ञान सहज ही—अनाहत ही प्राप्त होता है। इस अनुभूति स्थली की कल्पना की गई है हृदयस्थान में और इस चक्र का नाम दिया गया से—'अनहद चक्र'। यह चक्र वायुतत्व द्वारा निर्मित माना गया है। वायु की सहज गति के कारण। प्रेरित बुद्धि अग्रेषित हो स्वयं ही प्रश्न करती है कि क्या मैं ज्ञाता हूं? उत्तर स्वयं हो देती है कि ज्ञातापने का आरोपण अस्तित्व के कारण है। मैं अस्तित्ववान हूँ अतः उस पर ज्ञातृत्व, द्रष्ट्रत्व, भोक्तृत्व तथा कर्तृत्व का आरोपण करता हूँ, वस्तुतः मैं अस्तित्व स्वरूप हूँ और अन्य सब मान्यतायें केवल आरोपित है। इस अनुभूति में अनहद चक्र का भी भेदन हो गया।

प्रेरित कुण्डलिनी अपने प्रवास में आगे बढ़ती है। बुद्धि विचार करती हुई अपने को देह काल और देश की सीमा में परिच्छिन्न मानती है और इन सीमाओं को अवकाश आकाश में ही मिलता हुआ पाती है। आकाश विशुद्ध तत्व है अतः अनहद चक्र से उर्ध्वगत कुण्डलिनी कण्ठ में माने हुए विशुद्ध चक्र में प्रवेश करती है, ऐसी कल्पना की जाती है। यहां पर उसकी अनुभूति है 'यह (देह) मैं हूं' अपने को परिच्छिन्न और सीमित मानते ही बुद्धि अपने को वहीं लौटा हुआ पाती है जहां अपने को अवरोहण काल में उपस्थित दृश्य से अलग मान अपने पर व्यक्तित्व का आरोपण कर, अपने को सीमित और परिच्छिन्न मान लिया था। इस दशा में सन्मुख उपस्थित अनेक और अनन्त व्यष्टियां दृष्टिगत होती हैं। अपने को कर्तृत्व विहीन, भोक्तृत्व विहीन द्रष्ट्रत्वविहीन तथा ज्ञातृत्व विहीन जानते हुए भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व, द्रष्ट्रत्व, ज्ञातृत्व का साम्राज्य चारों ओर जो दृष्टिगत हो रहा है, वह क्या है? यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। विचार करने पर, 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' 'सब' रूपी संसार में जो अनेक और अनन्त व्यष्टियां दिखती हैं और उनका जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व दिखाई पड़ता है वह समष्टिगत प्रतीत होता है। प्रत्येक व्यष्टि तथा उसका कर्म जो दिखाई पड़ता है वह समष्टि का अंश ही दिखाई देता है। व्यष्टित्व कल्पना रूप आरोपण प्रतीत होने से व्यष्टित्व का भाव समष्टि में विलीन हो जाता और स्पष्ट मालूम होता है कि व्यष्टित्व और उसका कर्तृत्व केवल आरोपित है समष्टि ही एक सत्ता है जिसकी आज्ञा से यह सब कुछ हो रहा है। यह अनुभव होते ही प्रेरित कुण्डलिनी अपनी उर्ध्वगति में विशुद्ध चक्र का भेदन कर, आज्ञा चक्र में बढ़ जाती है। इस अनुभूति की महावाक्यानुरूप अभिव्यक्ति हैं :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"।

आज्ञा चक्र में कुण्डलिनी रूपा बुद्धि के सन्मुख जो प्रश्न उपस्थित होता है वह है कि समष्टि जो व्यष्टि—सापेक्ष प्रतीत होता है वह वस्तुतः क्या है? व्यष्टि सापेक्ष ब्रह्म है या समष्टि व्यष्टि विहीन? यह प्रश्न होते ही कि न व्यष्टि

समष्टि बाह्य है न समष्टि व्यष्टि विहीन है, निश्चय होता है कि ये दोनों शब्द भी केवल आरोपण ही हैं। आज्ञाचक्र में द्विदल के अनुरूप समष्टि और व्यष्टि रूपी द्वैत वर्तमान रहता है। इसी चक्र में विचार करने पर निश्चय होता है कि ये शब्द भी केवल नाम है—जब समष्टि और व्यष्टि अभिन्न हैं, वे नाम केवल कल्पना हीं तो है। 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' सब' पर से सुने हुए केवल नाम हैं जिनका आरोपण संसार में व्यवहार हेतु किया जाता हैं। परमार्थत: वे सब कल्पित हैं अवास्तविक हैं, अनस्तित्ववान हैं, जो हैं नहीं पर दिखते हैं और कल्पना के आधार पर व्यवहार में दूसरों से सुनकर उपयोग में लाये जाते हैं। निष्कर्ष निकलता है कि द्वैत भी नहीं है और एक भी नहीं हैं। अनेक और अनन्त व्यष्टियों के होते हुए भी वे या उनमें का कोई भी व्यष्टि समष्टि बाह्य नहीं है, न किसी भी व्यष्टि विहीन समष्टि है, केवल अद्वैत का हो साम्राज्य है।

इस अनुभूति में, प्रेरित कुण्डलिनी महत्तत्व के आज्ञारूपी चक्र का भी भेदन कर अपनी उर्ध्वगति में सहस्त्रार चक्र के कमल नाल में प्रवेश कर जाती है। यहां की अनुभूति है 'मैं' 'तू' 'वह' 'यह' 'वह' 'सब' से परे की स्थिति की— उस स्थिति की जहां बुद्धि भी मौन हो जाती है। इसके संबंध में कबीर की अभिव्यक्ति हैं :

हद से बेहद हुआ किया शून्य स्नान।
मुनिजन महल न पाइया तहां लीन्ह विश्राम ।।

यह अज्ञान स्थल है जहां अपने प्राकट्य काल में बुद्धि अपने को पाती है और बहिर्मुखता में 'मैं' 'मैं हूं' 'मैं हूं' 'यह' 'मैं यह हूं' 'यह मैं हूं' यह मैं इस देश काल में हूं' 'यह मैं ज्ञाता हूं' 'यह मैं द्रष्टा हूं' 'यह मैं भोक्ता हूं' यह मैं कर्ता हूं' रूपी कल्पनाओं के चक्कर (चक्र) बनाती है। आगे कोई कल्पना न कर सकने के कारण कुण्ठित हो जाती है। इसे ही कुण्डलिनी मार लेना कहा जाता है।

इस शून्य स्थिति के संबंध में कबीर के उद्गार हैं :—

शून्य शहर तक सब गये शून्य के आगे नाहिं।
शून्य के आगे जे गये ते मंद-मंद मुस्काहिं ।।

सुषुप्ति की स्थिति में तो सब शून्य स्थिति तक पहुंच ही जाते हैं। जागते ही बहिर्मुखतावशात् फिर कर्तृत्व भाव में पहुंच जाते हैं।

आज्ञा चक्र से, अद्वैतानुभूति में बुद्धिरूपा कुंण्डलिनी अज्ञान स्थल में पहुंचकर शून्यानुभूति में यदि जागृत रह अस्तित्व का भान बनाये रखती है और अनुभव करती है कि शून्य रिक्त नहीं वरन् पूर्ण है—लबालब चारों ओर दशों दिशाओं में भरा हुआ है, तो यह, अनुभव करते ही कुण्डलिनी सहस्त्रार के प्रस्फुटित कमल द्वारा

बहिर्मुखी हो जाती है। यही दशम द्वार का खुलना है। अब बुद्धि जो बहिर्मुखी होती है तो अपने निर्विकल्प द्वैतविहिन अर्न्तमुखी अनुभूतियों के साथ। अब जो व्यवहार होता है उसमें अपने अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व अद्रष्टृत्व अज्ञातृत्व अनस्तित्व तथा अद्वैत की अनुभूति के साथ परमार्थ का ही व्यवहार रहता है। इस स्थिति में कौन किससे राग द्वेष करे ? इस अनुभूति में :—

पूर्णमदः पूर्णमिदम् पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

की पूर्णानुभूति रहती है।

इस अनुभव प्राप्त पुरुष का जिसका अपना कोई व्यक्तित्व शेष नहीं है, समूचे विश्व की ऋद्धि—सिद्धि उसकी होती है—"सर्वात्मभावनावन्तं सेवन्ते सर्व सिद्धयः।" उसमें कमी यदि किसी को दिखती है तो वह देखने वाले के चश्में का दोष है जिसके संबंध में बिहारी के उद्गार हैं :—

तो रस राच्यौ आन बस कहैं कुटिल मति कूर।
वा मुख निंबौरी क्यों लगै जिन चाख्यौ अंगूर॥

इस स्थिति का अनुभवाद्गार हैं, महावाक्य—'प्रज्ञानं ब्रह्म'

——o— —

"बहिर्मुखी कल्पित द्वैत-दर्शन दुःख का एकमात्र कारण है तथा निर्विकल्प द्वैतविहीन अन्तर्मुखी--बहिर्दर्शन दुःख निवारण का एकमात्र उपाय है।"

इसे स्पष्ट किया गया है इस कुण्डलिनी-योग सम्बन्धी निबन्ध में। श्री पातञ्जल योगदर्शन के सूत्र ३-४३ में इसी निर्विकल्प अन्तर्मुखी-बहिर्दर्शन की अभिव्यक्ति हुई है।

# प्रार्थना

पाठकों से प्रार्थना है कि इस पुस्तिका को पठन-मनन के बाद अन्य विद्वज्जन को पठन एवं मनन हेतु दे देवें। अन्य विद्वज्जनों के नाम और पता से भी सूचित करें जिन्हें यह पुस्तिका भेजी जाय।

प्रकाशक

स्व-संवेदनशीलता के आधार पर प्रस्तुत
कुछ अन्य कृतियां

१. कवि हाल रचित गाहा सतसई की हिन्दी टीका । (नव सम्पादित क्रमानुसार)

२. बिहारी सतसई की सतलरी ।
(नव सम्पादित क्रमानुसार)

३. संत ज्ञानेश्वर प्रणीत अमृतानुभव का हिन्दी अनुवाद ।

४. कवि जयदेव कृत गीत-गोविंद का हिन्दी अनुवाद ।
( एक पात्रीय गीति नाटिकावत् सम्पादित )

प्रकाशक

# एक अभिमत

मनीषी प्रवर श्री ब्रजराज सिंह जी ठाकुर ने भारतीय
ुरा कथाओं के पात्रों और विविधाओं पर वर्षों तक वैज्ञानिकता-
र्ण रहस्य वादीय तत्त्व विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक उसी
का सुफल है। प्रतीक विद्या विश्व की अत्यन्त प्रिय विद्या है।
ारतीय कथाओं में प्राप्त कतिपय प्रतीकों पर प्रस्तुत ग्रंथ में
ुत्य प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार की विचार पद्धति
वश्य ही विचारक को यथार्थ तक पहुंचा सकती है। इस
ारण यह आदरणीय है।

मैं ठाकुर ब्रजराज सिंह जी के इस विचार पूर्ण ग्रन्थ
ा स्वागत करता हूं।

रेवा प्रसाद द्विवेदी
प्रो. तथा अध्यक्ष
संस्कृत साहित्य
काशी हिन्दू विश्व विद्यालय,
वाराणसी–५

०–७–८२

---

ंकेत पूरक अंश छोड़ दिये गये हैं, जिसके लिये द्विवेदी जी से
ा याचना है

बुक-पोष्ट

मुद्रित पुस्तक

समीपेषु श्रीमान डा० बी. एल. कौल M.A. PhD
हिन्दी विभाग
काश्मीर विश्वविद्यालय
हजरतबल
श्रीनगर
190006
(J&K)

प्रेषक :-

**भारत सिंह ठाकुर**

अधिवक्ता

बाबूलाल टाकीज गली

बंजारी चौक, रायपुर (म. प्र.)